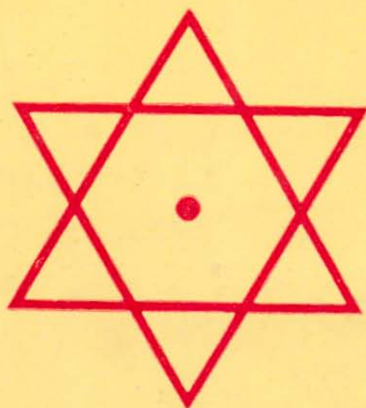
प्रतिभा सिद्धान्त विमर्श

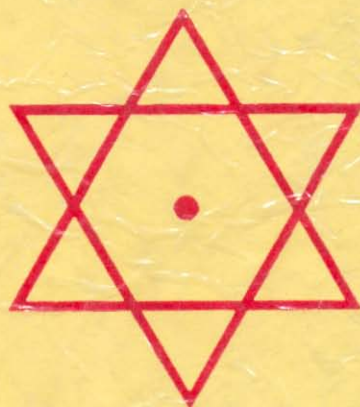
[त्रिक-दर्शन के विशेष सन्दर्भ में]



आशुतोष आङ्गिरस

प्रतिभा सिद्धान्त विमर्श

[त्रिक-दर्शन के विशेष सन्दर्भ में]



आशुतोष आङ्गिरस

प्रतिभा - सिद्धान्त - विमर्श

(त्रिक-दर्शन के विशेष सन्दर्भ में)

आशुतोष आङ्गिरस

प्रकाशक -
मातृका प्रकाशन
15A/15, ईस्ट पटेल नगर,
नई दिल्ली।

मूल्य - 200 रुपये

प्रकाशन वर्ष, 1996

मुद्रक -
रूपा प्रिंटर्ज़,
गुरू नानक मार्ग,
अम्बाला छावनी-133 001
दूरभाष : 0171-21068

षष्टि-पूर्ति के उत्सव पर
पितृ – चरणों में
सादर समर्पित

पितृ - निर्दिष्ट ज्ञानमार्ग के प्रति
माँ के आर्शीवाद के प्रति
भाई-बहन के स्नेह के प्रति
पत्नी की सहनशीलता और
सहयोग के प्रति -
मैं आभारी हूँ।

शुभाशंसा

विद्या के अधिष्ठता देवता भगवान् शिव वैदिक काल से ही भारतीय अतिथियों के उपास्य रहे है। शिव को सर्वस्व सिद्ध करने वाले प्रत्यभिज्ञा-दर्शन का उदय उत्तर भारत में काश्मीर में हुआ। इस प्रत्यभिज्ञा-दर्शन में शिव ही आत्मत्व के रूप में प्रतिष्ठित हैं तथा इनके साक्षात्कार से परम पुरुषार्थ मोक्ष की प्राप्ति होती है। शैव दर्शन में तीन रत्न- शिव, शक्ति एवं बिन्दु के रूप में माने गये हैं। इन तीन रत्नों का प्रकाशक शैव-दर्शन त्रिक-दर्शन के रूप में विख्यात है। यह दर्शन अत्यन्त रहस्यगर्भित है। आज इसके रहस्यों के प्रचार-प्रसार की सुधी जनों में अत्यन्त आवश्यकता है। इस दर्शन की तांत्रिक पृष्ठभूमि इसके रहस्यों को अत्यन्त गूढ बना देती है।

विद्वान् लेखक डॉ. आशुतोष आङ्गिरस ने इस त्रिक-दर्शन के रहस्यों को बड़ी ही कुशलता से 'प्रतिभा-सिद्धांत-विमर्श' में उद्‌घाटित करने का स्तुत्य प्रयास किया है। "न रत्नमन्विष्यति मृग्यते हि तत्" इस सूक्ति को लेखक ने चरितार्थ करते हुए शैव दर्शन के रत्न के रूप में प्रसिद्ध त्रिक तत्त्व को भारतीय मनीषा को समृद्ध करने के लिए खोज निकाला है।

प्रतिभा शब्द भारतीय वाङ्मय में अत्यन्त प्रसिद्ध शब्द है। नवनवोन्मेषशालिनी बुद्धि के रूप में हम प्रतिभा से सुपरिचित हैं। साहित्य, योगदर्शन, व्याकरण आदि शास्त्रों में प्रतिभा शब्द का उल्लेख है। त्रिक-दर्शन में प्रतिभा एवं प्रत्यभिज्ञा से सम्बद्ध सिद्धांतों का लेखक ने अपने इस ग्रन्थ में अत्यन्त मनोरम विवेचन प्रस्तुत किया है।

लेखक ने अपने ग्रन्थ में त्रिक-दर्शन के स्वरूप का विवेचन करते हुए इसके विकास का अत्यन्त वैज्ञानिक विवेचन किया है। इन्होंने अपने चिन्तन के परिपाक से त्रिक-दर्शन को एक अभिनव दृष्टि दी है। इस प्रकार के प्रयास से शैव-दर्शन की परम्परा को गतिशील बनाए रखने में सहायता मिलेगी ऐसा मेरा विश्वास है। जिस दर्शन को अभिनवगुप्त जैसे मर्मवेत्ताओं ने अपनी प्रतिभा से परिपुष्ट किया तथा तपस्थली काश्मीर के अनेक तंत्र-विद्या-विशारदों ने महिमा-मण्डित किया उस दर्शन को आज की विषम परिस्थितियों में त्रिवेणी में लुप्त हुई सरस्वती की स्थिति में जाने से रोकने में लेखक पूर्ण सफल हुए हैं।

हमें पूर्ण आशा एवं विश्वास है कि भारतीय रहस्यपूर्ण दार्शनिक चिन्तन को गति देने का यह सत्प्रयास विद्वत्समुदाय में अवश्य पुरस्कृत होगा।

वाचस्पति उपाध्याय
कुलपति
श्री लाल बहादुर शास्त्री
राष्ट्रीय संस्कृत विद्यापीठ
नई दिल्ली-110016

आमुख

ब्रह्मविद्या की परम्परा का प्रवाह इतना विस्तृत और वेगवान् रहा है कि छोटी मोटी संकीर्ण सरिताओं या कुल्याओं जैसी परम्पराओं के स्रोतों के किनारों पर रहने वाले साधक लोग उस महाप्रवाह को देखकर आतंकित एवम् सशंङ्क होकर या तो केवल किनारे पर ही बैठे रहते हैं अथवा पूजा-प्रणाम आदि समर्पित कर लौट जाते हैं। उसके अवगाहन से अपने जीव को शिवत्व में पर्यवसित करके जीने का सौभाग्य, भारत में ऋषि-परम्परा, मुनिपरम्परा और कलाविद् आचार्यों की परम्परा में से जिन लोगों को प्राप्त हुआ उनमें से सभी ने दार्शनिक या मात्र आधुनिक चिन्तक होने की अपेक्षा दृष्टि के माहात्म्य को ही आत्मसात् करने का प्रयास किया, ताकि स्वयम् को शिवत्व की भूमिका में ले जाकर साधु लोकव्यवहार किया जा सके। केवल नए नए बुद्धि के घावों के रिसाव से पैदा होने वाले विचारों से उत्पन्न होने वाले आत्मघाती युद्धों या संघर्षों से मानव का विकासोन्मुखी चैतन्य क्षत-विक्षत न हो।

प्रतिभा इसी शिवत्वोन्मुखी दृष्टि का एक नाम है जिसने ऋषियों से मंत्रकाव्य की रचना कराई, मुनियों से आचारसंहिता के धर्मदर्शन लिखवाये, वाल्मीकि, व्यास, कालिदास की परम्परा के कवियों से काव्य रचवाए, कलाविदों की कारयित्री प्रतिभा से नाना ललितकलाओं के प्रासाद की बंद खिड़कियां और द्वार खुलवाए, उपयोगी कलाओं को तकनीकी-विज्ञान में रूपान्तरित करवाया तथा नक्षत्रविद्या के पीछे के गुप्त रहस्यों को उद्घाटित करवाया। आचार्यों ने इसे भावयित्री प्रतिभा के रूप में परम्परा से प्राप्त करके काल को प्रवाह की मांग के अनुसार विलक्षण सूत्रग्रन्थों, वार्तिकग्रन्थों, भाष्यग्रन्थों के सत्सम्प्रदायों की परम्परा का प्रवर्तन किया। लोक और शास्त्र के व्यवहार की एक समान मातृका संस्कृत-संस्कृति के उद्गमस्रोत को नाना मोड़ देकर त्रिपथगा तो बनाया ही, दुराग्रही हिंसक प्रकृति के जीवों की कुचेष्टाओं से उसको विपथगा होने से बचाने का व्रत भी लिया।

इस व्रत को धारण करने वालों में से काश्मीरी शैवाद्वयमत के आचार्यों का बहुत बड़ा हाथ रहा। इन आचार्यों की साहित्य-रचनाओं से पता चलता है कि इन्हें यह पूर्णतः पता था कि जितने भी दर्शन शास्त्र हैं वे सभी उस परा प्रातिभ-दृष्टि को पाने की परियोजनामात्र हैं, उपायमात्र हैं, साधनमांत्र हैं। उसमें से एक बार जी लेने से सभी कुछ अनुपाय अथवा अनुत्तरोपाय हो जाता है। शैवों और शाक्तों की यही ब्रह्मदृष्टि है, यही योग की चरम निष्पत्ति अथवा समाधि है। कुमार-सम्भव में जहां एक ओर कालिदास अपने अष्टमूर्ति शिव को इस समाधि में समाहित दिखाते हैं, वहीं भगवती पार्वती को भी उसी समाधि में समाहित अंकित करते हैं। शिव की समाधि के पांच चित्रों में से सुधी विद्वज्जन दो एक चित्रों पर ध्यानस्थ हों तो कालिदास के महाभोग और महायोग का स्वरूप स्पष्ट हो उभर आएगा -

पर्य्यङ्कबन्धस्थिरपूर्वकायमृज्वायतं सन्नमितोभयांसम्। 3-45
उत्तानपाणिद्वयसन्निवेशात् प्रफुल्लराजीवमिवाङ्कमध्ये।।

शिव की इस महासनसिद्धि या कार्यसिद्धि के बाद प्राणसिद्धि और मनःसिद्धि का स्वरूप देखिए –

अन्तश्चराणां मरुतां निरोधान्निवातनिष्कम्पमिव प्रदीपम्।। 3-48

तदनन्तर प्रतिभा के असम्प्रज्ञात रूप का निरूपण करने में बहुत ही कुशल कवि-संवेदना को देखें –

मनोनवद्वारनिषिद्धवृत्ति हृदि व्यवस्थाप्य समाधिवश्यम्।
यमक्षरं क्षेत्रविदो विदुस्तमात्मानमात्मन्यवलोकयन्तम्।। 3-50

भगवती पार्वती की चरम समाधि-निष्पत्ति का चित्रण तो परवर्तीकाल के साहित्याचार्यों के लिए व्यङ्ग्यार्थ प्रधान उत्तम काव्य का उदाहरण अभी तक बना हुआ है वृष्टि-सृष्टि की प्रथम बूंदें जिस क्रम और लय के साथ पार्वती के अर्धोन्मीलित किन्तु स्थिर पलकों पर से ढुलकती हुई पर्याप्त विलम्ब से गहन नाभि में प्रवेश कर सकीं वह मात्र पाशवी चेतना के लोगों को उत्तम स्त्री देह की मांसलता देकर चमत्कृत करने के लिए नहीं, अपितु ऊर्ध्वग ही रहने वाली शिवचेतना को अधोमुखी ऊर्ध्व सहस्रार कमल से अवतरित करके मूलाधार के भी नीचे स्थित ऊर्ध्वमुखी अधः सहस्रार के वितस्तिभर (प्रायः 12 अंगुल) ऊपर स्थित नाभिकमल या मातृ-पद्‌म-मणिपूर में स्थापित करने का कवि का वैसा ही प्रतीकात्मक संकल्प है, जैसा कि आधुनिक युग में श्रीअरविन्द अतिमानस चेतना की दिव्यता को पार्थिव चेतना के नाभिकमल में उतार कर एक नए आध्यात्मिक दैवी शक्ति-सम्पन्न मानव समाज को बनाने का संकल्प ले रहे थे। श्री अरविन्द भी प्रतिभा की दृष्टि से उसी कालिदासीय परियोजना को लागू करने में अनुचर तो थे ही। वे भी वसुधातल पर प्रभातरल स्वर्गिक ज्योति को उतारना चाहते थे और रवीन्द्रनाथ टैगोर भी मिट्‌टी के प्याले सी मिट्‌टी की देह में अमृत भर कर पीने को बहुत उत्सुक थे।

शैवी प्रतिभा-सम्बंधी अवधारणा को उसके क्षेत्रफल की दृष्टि से यदि देखें तो उसका आकाश बहुत विस्तृत दृष्टिगत होगा। क्योंकि उसके मूल में सम्पूर्ण जीवन की स्वीकृति है। न वहां जगत् से, जीवन न से पलायन है, न उसको बौद्धों की संवृत्ति-सत्ता या वासना से भय है न जगत् की प्रातिभासिकता की भ्रान्तियों की मरुमरीचिका या रज्जु में सर्प की मिथ्या प्रतीति होने का आतंक। इसी से संस्कृत के नाटककारों में उच्च कोटि के नाटककार

शूद्रक जब गणिका वसन्तसेना के चारुदत्त के प्रति आकर्षण का इतना बड़ा अभिनयन 'मृच्छकटिकम्' के माध्यम से करने लगते हैं तो इतनी बड़ी प्रेमकथा के मूल नान्दी-पाठ को नाटक की पीठिका बनाकर शिव की "शून्येक्षणघटितलयः ब्रह्मलग्नः समाधि" को उस कथा की नींव में क्यों रख देते हैं ? कालिदास ने तीनों नाटकों में ही रोमांटिक कथा के मूल में शैवी नान्दी को ही प्रस्थापित क्यों किया है ? भवभूति एक ऐसे शैव हैं जो प्रथम दो नाटकों को नान्दी में शिव के परिवार एवम् उनके तृतीय नेत्र का अभिनन्दन करना नहीं भूलते। 'उत्तररामचरितम्' में अमृता वाक्-कला को स्मरण करते हैं। वास्तव में संस्कृत व्याकरण-दर्शन में वाक्शैवी प्रतिभा का ही अपर पर्याय है। क्योंकि संस्कृत वाक्-सूत्रों की प्रवृत्ति जिस ढक्का के चौदह बार बजने पर हुई वह ढक्का नटराज की ही थी। महाकवि और संस्कृत के अमर गद्यगायक बाणभट्ट की दोनों कृतियां, विशेषतः संपूर्ण कादम्बरी और उसकी प्रधान पात्र महाश्वेता, शैवी प्रतिभा के आलोक से ही आपाद-मस्तक रची बसी हैं। इस सारी उपलब्धि का कारण केवल एक ही है – और वह जीवन को उसकी समग्रता में स्वीकृत करने की क्षमता है जो आनन्द और रचनाधर्मिता के बीचों-बीच खड़ी हो, तो उसे प्रतिभा ही नाम दिया जाएगा।

अब इस 'प्रतिभा-सिद्धान्त-विमर्श' के लेखक डा० आशुतोष आंगिरस की इस रचना के स्तुत्य प्रयास को यदि तत्त्वदृष्टि से देखा जाए तो ग्रन्थ के शीर्षक के तीनों पद एक दूसरे के ऐसे अनुपूरक हैं कि ग्रन्थ के हृदय की मार्मिकता की झलक को शीर्षक के चेहरे पर ही देखा जा सकता है। काश्मीर त्रिक-दर्शन में अद्वय परम शिव के ही उभय पार्श्वों में से जो रचनात्मक गतिशील शक्ति है वही विमर्श कही जाती है। जो स्वेच्छा से सर्जन भी करती है और प्रतिग्रहण भी कर लेती है, ददाति प्रतिगृह्णाति, वही विमर्श-शक्ति इस जीवन को जीन योग्य और जगत् को जानने योग्य और आस्वाद्य बनाती है, विमर्शनीय बनाती है। उपनिषद् ग्रन्थों का प्रसिद्ध महा-महावाक्य "आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यः मन्तव्यः निदिध्यासितव्यः" जो आत्म-शिव को देखने के लिए श्रवण, मनन, निदिध्यासन का निर्देशन दे रहा है वह विमर्शनशक्ति की ही प्रक्रिया के अनुसरण से प्रकाशरूप परब्रह्म परशिव से जुड़कर, स्वयम् शिवरूप होकर, अपनी प्रतिभा के उन्मेष द्वारा अपने परिवेश को लोकहित को शिवत्व के साथ जोड़नामात्र है। प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रणेता डा० आशुतोष आंगिरस के इस प्रथम प्रयास को विद्वानों के बीच प्रस्तुत करने का उनका साहस सर्वथा अभिनन्दनीय है। अपेक्षा यही है कि आज के इस युग के चलतू ज्ञान की प्रतिष्ठा के दौर में तलस्पर्शी किन्तु उपेक्षित संस्कृत के तत्त्वप्रतिपादक एवम् पण्डित-प्रज्ञा के लिए स्पृहणीय इस रचना का सुधी पाठकों द्वारा उचित मूल्यांकन हो, जिससे ग्रन्थकार की लेखनी का उत्तरोत्तर संस्कार होता रहे और वह अपनी पूर्वज-विद्वत्परम्परा के आशीर्वचनों का भागी, भविष्य में भी, अपने

स्वस्थ लेखन से बनता रहे। अन्त में इस तत्त्व दर्शन की अधिष्ठात्री भगवती पराप्रतिभा का स्मरण करते हुए मैं लेखक के लिए कामना करता हूं –

अखण्डैकरसानन्दकरे परसुधात्मनि।
स्वच्छन्दस्फुरणामत्र निधेहि-कुलनायिके नमः।।

शुभाशंसा सहित।

डा० रमाकान्त शर्मा आंगिरस

शास्त्री, एम. ए. (संस्कृत एवम् हिन्दी), पी. एच. डी.
कालिदास प्रोफेसर ऑफ संस्कृत
संस्कृत-विभाग,
पंजाब विश्वविद्यालय,
चण्डीगढ़ - 160 014

पूर्व प्रोफेसर ऑफ संस्कृत
चार्ल्स यूनिवर्सिटी
प्राग-चेकोस्लोवाकिया

निवेदन

भारतीय चिन्तन में एक वैशिष्ट्य रहा कि वह जब कभी भी बिन्दु से विस्तार की ओर बढ़ा तो उसके विस्तार को फिर किसी एक बिन्दु में समेट लिया गया। यही कारण है कि किसी भी भारतीय विचार या धारणा का मूल कभी उच्छिन्न नहीं हुआ। परवर्ती-काल में प्रचलित प्रतिभा-सिद्धान्त के बारे में यह बात अक्षरशः सत्य है। जब भारतीय इतिहास में बुद्ध के अवतरण के बाद यह बात बड़े जोर से फैली कि जीवन और जगत् "दुखालयमशाश्वतम्" अर्थात् जगत् और जीवन अनित्य और दुखों का घर है, तथा उपनिषदों का "प्रज्ञानं ब्रह्म" क्षणिकवाद में डूब गया और सच्चित् वस्तुरूप ब्रह्म शून्यवाद में खो गया और फिर नव्य-वेदान्त भी उन्हीं बौद्धों की तरह जीवन और जगत् को अध्यास और मायावाद का दलदल मानने लगा तब भारतीय चिन्तन के क्षितिज पर उपेक्षित हो रही अन्य चिन्तन-पद्धतियों की समन्विति को लेकर त्रिक-दर्शन को साथ लेकर शक्ति-सिद्धांत उदित हुआ। उसने जीवन और जगत् को एक नए सिरे से देखते हुए उसे चित्-शक्ति का विलास या आनन्द का स्फुरण कहा।[1]

इस वैदिक-दृष्टि को वैदिकेतर दृष्टियों के मायाजाल से बड़ी देर बाद मुक्त करके जिन्होंने पहचाना उन्हें प्रत्यभिज्ञा प्राप्त हुई और बौद्धों, वेदान्तियों की प्रव्रज्या का निषेध कर दिया गया। शांभवी मुद्रा में बैठने वाली बुद्धमूर्तियों के मस्तक में बन्द एक तार्तीया या तृतीय-दृष्टि का विकास कर शैवों ने कहा "स हि निष्प्रतिघेन चक्षुषा त्रितयं ज्ञानमयेन पश्यति।[2] कालिदास का यह निष्प्रतिघ-चक्षु वसिष्ठ मुनि के पास था जो एक ही जगह बैठे-बैठे बिना किसी रुकावट के भूत, भविष्यत् वर्तमान और समस्त देशकाल को हस्तामलकवत् देख सकते थे। महिमभट्ट ने भी 'व्यक्ति-विवेक' में इस चक्षु का दर्शन करते हुए कहा कि यह प्रतिभा भगवान् का तीसरा चक्षु है जिससे कवि सम्पूर्ण त्रिलोकी में व्याप्त भावों का साक्षात्कार कर लेता है।[3]

शैवों ने काश्मीर में इस प्रतिभा-चक्षु का दर्शन, हिमगिरि की उत्तुंग बर्फ से लदी शैल-श्रेणियों के बीच बसी भारतीय कवि दृष्टि और दर्शन-दृष्टि के बीचोंबीच किया। इसी

---

1. स्फुरणान्वयि ज्ञानमेव प्रकाशामिधं ब्रह्म। तच्च सर्वज्ञत्व सर्वेश्वरत्वसर्वकर्तृत्वपूर्णत्व व्यापकत्वादिशक्ति संवलितम्। तस्य चानन्दरूपांश एव स्फुरणं पराहन्ता विमर्शः।'' वरिवस्यारहस्यम्, पृ० 4
2. रघुवंश, 8-78
3. सा हि चक्षु भर्गवतस्तृतीयमिति गीयते।
   येन साक्षात्करोत्येषभावाँस्त्रैलोक्यवर्तिनः।। व्यक्ति-विवेक व्याख्यानम्, विमर्श 3

को वाग्रूपा मातृका मानते हुए वसुगुप्त ने इसे समस्त ज्ञानों का अधिष्ठान माना।[4] शिवसूत्र-विमर्शिनी में उद्धृत श्रीतंत्र-सद्भाव में कहा गया है कि सारे ही मंत्र वर्णरूप हैं और वर्ण शक्तिरूप हैं और शक्ति शिवरूपा मातृका है। उसी ने ब्रह्म सहित सब भुवनों को व्याप्त कर रखा है।[5] पशुभाव में लुप्तविभव जीव का अपनी इसी शैवी शक्ति या प्रतिभा को पहचान लेना ही उसके पाशों को खोल देता है और वह शिवयोगी चौसठ तंत्रों या कलाओं के बोध के साथ, सौंदर्यलहरी में प्रतिपादित भगवती के स्वतंत्र तंत्र को भी प्रत्यक्षीकृत बना लेता है।[6]

प्रतिभा शब्द से मेरा प्रथम परिचय काव्यशास्त्र में काव्य-हेतुओं के माध्यम से और योगसूत्र के तीसरे पाद विभूतिपाद में आए दो सूत्रों से हुआ। तीसरा पाद योगी के द्वारा ध्यान धारणा समाधि के एक जगह एकत्रित संयम से पैदा हुई ऊर्जा के माध्यम से तरह-तरह की विलक्षण सिद्धियों की प्राप्ति की बात कहता है। पतंजलि उन समस्त सिद्धियों की प्राप्ति का होना प्रातिभ ज्ञान से बतलाते है।[7] दूसरे सूत्र में प्रातिभ ज्ञान या "इण्ट्यूशनल नॉलिज, इण्टयूटिव-इण्टेलैक्ट" से जो शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध के अनुभव होते हैं वे भी सामान्य न होकर प्रातिभ होते हैं।[8] कई विद्वान पातंजल-सूत्रों में प्रतिभा शब्द का सर्वप्राचीन प्रयोग मानते हैं। लेकिन योग में इससे प्राप्त सिद्धि को भी साधना में प्रतिबन्ध ही माना गया है। प्रत्यभिज्ञा शब्द से मेरा परिचय नैयायिकों की ज्ञान-मीमांसा को पढ़ते समय हुए हुआ। बाद में प्रतिभा और प्रत्यभिज्ञा सिद्धांतों का स्पष्टीकरण त्रिक-दर्शन में हुआ।

योग से शैवों और कौलों का घनिष्ठ सम्बंध रहा है और प्रत्यभिज्ञा-शैवमत में प्रतिभा का बहुत ऊंचा स्थान रहा है। अभिनवगुप्त ने अपने तंत्रालोक ग्रन्थ में स्वरूप-प्राप्ति के जो चार उपाय कहे हैं उनमें अनुपाय और शाम्भवोपाय लगभग एक ही हैं और तत्त्व के साथ सहज अभेद की दशामात्र हैं, जहां शिवयोगी को ज्ञान का स्वतः-स्फुरण होता है।[9] कौलों की यही सोम-कुण्डलिनी है, जहां से अमृत का प्रवाह चलता है। इसी के प्रतिभास

---

4. ज्ञानाधिष्ठानं तु मातृका। शिव-सूत्र, 1-4
5. सर्वे वर्णात्मका मंत्राः ते च शक्त्यात्मकाः प्रिये।
   शक्तिस्तु मातृका ज्ञेया सा च ज्ञेया शिवात्मिका।। श्रीतन्त्र सद्भाव (शिवसूत्रविमर्शिनी में उद्धृत)
6. स्वतंत्रं ते तन्त्रं क्षितितलमवातीतरदिदम्।" सौन्दर्यलहरी, श्लोक 31
7. प्रातिभाद्वा सर्वम्। पातञ्जल योग सूत्र, 3-33
8. ततः प्रातिभ श्रावणवेदनादर्शास्वादवार्ता जायन्तें।" वही, 3-37
9. साक्षादुपायेन इति शाम्भवेन। तदेव हि परज्ञानावाप्तौ अव्यवहितं निमित्तम्। तंत्रालोक, भाग-I, पृ० 182

हो जाने पर व्यक्ति का व्यक्तित्व 'यूनिवर्सलाइज्ड' यानि वैश्व हो जाता है और विश्वात्मता कवि या द्रष्टा को एक अणु-मात्र में सिमटती दिखाई देती है। इसी महामाहेश्वरी के स्वरूप का अनुसंधान हमने प्रत्यभिज्ञा को अन्य दर्शनों की परिधि में रखकर किया है। प्रस्तुत प्रबन्ध में मेरा दृष्टिकोण रहा है कि किसी भी एक भारतीय दर्शन की किसी भी चिन्तन-विद्या को शेष भारतीय दर्शनों से अलग करके देखने से विकृत नहीं करना चाहिए। अपितु उनके सन्धि-सूत्रों और मर्मस्थलों को खोलते समय दूसरे अति-सूक्ष्म एवम् कोमल तन्तुओं का ध्यान रखना परमावश्यक है। आशा है, सुधी विद्वान् इसी दृष्टि से इस प्रस्तुतीकरण से कुछ संतोष प्राप्त करेंगे। किन्तु मैं अपने इस प्रयास के बारे में यथाशक्ति परिश्रम करके भी इतना ही कह सकता हूँ –

"आपरितोषाद्विदुषां न साधु मन्ये प्रयोगविज्ञानम्।
बलवदपि शिक्षितानामात्मन्यप्रत्ययं चेतः।"

(आशुतोष आङ्गिरस)

विषयानुक्रमणिका

कुछ विद्वानों ने रिलिज़न के लिए मोक्ष-धर्म शब्द का प्रयोग किया है जो शैव, वैष्णव, शाक्त संप्रदायों पर पूर्णतः चरितार्थ होता है। क्योंकि शैव और वैष्णव दोनों ने शक्ति-दर्शन को पूर्णतः आत्मसात् किया है। इसलिए ये दोनों ही सम्पूर्ण हिन्दु-मानस पर आधिपत्य किए हुए हैं। प्राचीनता की दृष्टि से शैवों और वैष्णवों में से हम शैवमत को ही प्राचीन मान कर अग्रसर होते हैं।

जॉन मार्शल द्वारा मोहनजोदड़ो के श्मशान में से प्राप्त कुछ साक्ष्यों के आधार पर कई विद्वानों ने प्रतिपादित किया है कि आर्यों के आने से पूर्व शैवचेतना ही यहां के मूलनिंवासियों पर प्रभावी थी। उसका वैदिकेतर स्वतंत्र अस्तित्व था। आज भी प्रचलित शैवों की लिंगपूजा को देखकर कई विद्वान ऋग्वेद में आए "शिश्नदेवाः" शब्द का अर्थ भी वैदिकेतर किसी लिंग-पूजक जन-समुदाय से लेते हैं जो 'अनासः' यानि छोटी नाक वाले लोग थे। क्योंकि इन्द्र इन लोगों को यज्ञादि में बाधा डालने के लिए दण्डित करता था। पुराणों में सतीदाह की कथा में वैदिक प्रजापति के यज्ञ का शिवगणों द्वारा ध्वंस भी इसी तथ्य की पुष्टि करता है।

कुछ विद्वानों ने अथर्ववेद में व्रात्यस्तोम को देखकर शैवों या शिवगणों का सम्बन्ध व्रात्यों से जोड़ा है। किन्तु जो भी हो, इतना तो स्पष्ट है कि वैदिक काल में दो स्वतंत्र विचारधाराओं के होने के प्रमाण स्पष्ट हैं। एक वेद-मूलक, यज्ञीयकर्मकाण्ड और जातिवाद पर आधारित तो दूसरी आगम-मूलक, कर्मकाण्ड-विरोधी, जातिहीन संघवाद पर आधारित है। शैवों का मूल सम्बन्ध इन आगमों से ही रहा । वेदों में वर्णित रुद्र या श्वेताश्वर-उपनिषद् के परब्रह्मवाचक शिव के साथ उसका सम्बन्ध परवर्ती घटनाक्रम का फल है। वैदिक रुद्र का ध्वंसकारी होना तथा साथ ही वीर और प्रजाओं का पालक होना ये दोनों बातें वाजसनेयी-संहिता, ऐतरेय तथा शांखायन ब्राह्मण में आती हैं।

ऐसा प्रतीत होता है कि आगमों और उपनिषदों के एक दूसरे के अधिक निकट होते जाने पर ही वर्तमान शैवमत का विकास हुआ तथा शिव को, पशुपति को यज्ञीय देवताओं में स्थान मिला। उसके वन्य स्वभाव को थोड़ा सा आच्छादित कर के आर्यों ने अपना लिया। इस तरह वैदिक और आगमिक विचारधाराओं का सामञ्जस्य ही आज का शिव है जिसे अब भी वैदिक-लोग पुरुषसूक्त द्वारा अथवा "तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु" कहकर पूजित करते हैं।

इस शैवमत का विकास मुख्यतः भारत के उत्तर और दक्षिण में ही हुआ। इन

दोनों दिशाओं एवम् चिन्ताधाराओं के सामञ्जस्य ने एकेश्वरवादी शैवमत की बौद्धों और जैनों के तर्कप्रहारों से रक्षा ही नहीं की अपितु उन के महायान मत को मूर्तियां प्रदान कर प्रभावित भी किया। इस प्रकार प्राचीन शैवमत नाना संप्रदायों के रूप में विकसित हो गया।

श्रीरामानुज ने शिवपूजकों के दो घोर उग्रवादी संप्रदायों का उल्लेख किया है जिन्हें कापालिक और कालामुख कहा जाता था। लेकिन माधवाचार्य ने सर्वदर्शन-संग्रह में केवल तीन शैव संप्रदायों का ही लघु परिचय दिया है। जिन्हें नकुलीश, शैव और प्रत्यभिज्ञा कहा गया है। किन्तु वीरशैव अथवा लिंगायत संप्रदाय का उसमें नाम नहीं है। इन तीनों शैवमतों की पृष्ठभूमि द्वैत, द्वैताद्वैत एवम् अद्वैत पर आधारित है। तो भी इन तीनों ही दृष्टियों को शिव के अंशावतार दुर्वासा द्वारा अपने तीन मानस पुत्रों त्र्यम्बक, आमर्दक और श्रीनाथ को दिया गया। इसका प्रयोजन शैवमत के उखड़े हुए लोगों की आस्था की पुनः स्थापना करना था। त्र्यम्बक ने काश्मीर शैवाद्वैत या प्रत्यभिज्ञा दर्शन का प्रवर्तन किया। लेकिन प्रत्यभिज्ञा दर्शन को सही तौर पर प्रकाश में लाने वाला ऐतिहासिक नाम वसुगुप्त का है। जिन्होंने इस दर्शन के शिवसूत्रों का शंकरोपल नामक शिला पर से उद्धार किया। "शिवसूत्र" के साथ स्पन्दकारिका को भी कई लोग वसुगुप्त की ही कृति मानते हैं। कल्लट ने नौवीं शताब्दी में इसी ग्रन्थ पर अपनी वृत्ति लिखी। किन्तु वसुगुप्त के बाद सोमानन्द ने शिवदृष्टि ग्रन्थ लिखकर प्रत्यभिज्ञा को एक ठोस दार्शनिक आधार प्रदान कर दिया। फिर सोमानन्द के ही पुत्र उत्पल ने "ईश्वर-प्रत्यभिज्ञाकारिका" और उस पर वृत्ति लिखकर काश्मीर शैवदर्शन को प्रत्यभिज्ञादर्शन का नाम दिलवाया। क्षेमराज, अभिनवगुप्त आदि आचार्यों ने इस मत को अपने ग्रन्थों द्वारा और अधिक प्रौढ़ता प्रदान की।

इस दर्शन का मूल मन्तव्य यही है कि जो व्यक्ति इस दर्शन के अनुसार अपने भूले हुए शिवस्वरूप को पहचान लेता है वह शिव के साथ तादात्म्य अनुभव कर मोक्ष प्राप्त कर लेता है। उत्पल ने कहा है - "प्रतीपम् आत्माभिमुख्येन ज्ञानं प्रकाशः प्रत्यभिज्ञा। सा च भातभासमानरूपा अनुसन्धानात्मिका।"[1] इस प्रत्यभिज्ञा या आत्म-पहिचान को प्राप्त करने के लिए अनुपाय शाम्भवोपाय, शाक्तोपाय एवम् आणवोपाय आदि उपायों का अवलम्बन करना पड़ता है। एवम् शिवत्व का स्वरूप-लाभ ही इसका चरम फल है।

यद्यपि ऊपर से देखने पर यह दर्शन नैयायिकों के ईश्वर, वैशेषिक के अणु, सांख्य के प्रकृति-पुरुष, योग की समाधि, मीमांसा का कर्म और वेदान्त के अद्वैत तत्त्व का समन्वितिकरण ही लगता है तथापि इसमें स्वातन्त्र्यवाद और आभासवाद आदि की नए सन्दर्भ में कल्पना इसे एक नवीन मौलिक भारतीय-दृष्टि का प्रसाद बना देती है। इसमें परम-शिव अपने स्वातन्त्र्य के कारण ही अपनी चित्, आनन्द, इच्छा, ज्ञान और क्रिया शक्तियों द्वारा

ही इस सृष्टि के जन्म, स्थिति, लय, निग्रह एवम् अनुग्रह आदि पांच कृत्य करते हैं।[2]

शैवमत का दूसरा रूप जो सिद्धान्तशैव कहा जाता है वह द्वैत एवम् द्वैताद्वैत दृष्टियों का प्रतिफलन है। उसका मूल उत्स दक्षिण-भारत ही रहा। यह मत दस द्वैत-प्रतिपादक और 18 द्वैताद्वैत-प्रतिपादक तंत्रों एवम् आगमों को अपना आधार मानता है। जिनमें से मृगेन्द्र एवम् कामिक आगम मुख्य आप्त-प्रमाण हैं।

वैसे दाक्षिणात्य शैव परम्परा के अनुसार भगवान् शिव ने अपने पुत्र स्कन्द और शिष्य नन्दी को अलग-अलग आचार्य पद प्रदान किया था। अतः दोनों ही परम्पराएं शैव-दृष्टियों का दक्षिण में अपने-अपने ढंग से विकास करती रहीं। किन्तु उस सारे क्रम का निश्चित इतिहास-बद्ध रूप प्रस्तुत नहीं किया जा सकता। संभव है इन्हीं प्रमुख शैवी दृष्टियों से ही विभिन्न अन्य अवान्तर शैव संप्रदायों का विकास हुआ हो। लेकिन सभी शिवदृष्टियां यह मानकर चलती हैं कि मूलतः पदार्थ तीन ही हैं - पशुपति, पशु एवम् पाश। शैवाद्वैती इनके मूल में एक ही शिव की अद्वैतता को पहचानना चाहते हैं और सिद्धान्ती अपने शिव-प्रेम या भक्ति के माध्यम से शिव को पाना तो चाहते हैं पर उन्हें उपास्य मानकर और स्वयम् को उपासक मानकर। इसलिए द्वैत बनाए रखना ही चाहते हैं। लेकिन दोनों ही जानते हैं कि शिव तो द्वैताद्वैत-विलक्षण हैं। शक्तितत्त्व के समावेश हो जाने से ही शिव सस्पन्द तथा निष्पन्द दशाओं को धारण करते हुए ही पंचकृत्य करते हैं। शिव के ये पंचकृत्य ही संपूर्ण सृष्टि का विकास और लय है।

शैवाद्वैत और शाक्ताद्वैत का सम्बन्ध

यह सत्य है कि प्रस्तुत सन्दर्भ में हम प्रत्यभिज्ञादर्शन और प्रतिभा ज्ञान के आपसी सम्बंधों पर प्रकाश डालने जा रहे हैं कि वे सम्बन्ध कितने गहन हैं, और कहां तक मार्मिक हैं और फिर कैसे वे दोनों दर्शन परस्पर अविनाभाव सम्बन्ध से समवेत होकर जीवन की संपूर्ण व्याख्या करने में समर्थ हुए हैं। मैं समझता हूं कि भारतीय दर्शनों में यह सौभाग्य सम्भवतः अन्य किसी भी दर्शन प्रणाली को नहीं मिल सका। जैन, बौद्ध, वेदान्ती, योगी, सांख्याचार्य एवम् मीमांसक किसी न किसी अतिवाद से पीड़ित रहने के कारण जीवन के सहज पक्षों की व्याख्या करने में आज भी असमर्थ हैं। चतुर्वर्ग में सामञ्जस्य न खोज पाने के कारण ही कहीं न कहीं उनकी चादर छोटी पड़ जाती है और बहुत सा जीवन अव्याख्यात रह जाता है।

किन्तु शैवों-शाक्तों ने एक सम्मिलित प्रयत्न जो किया है उस पर यह आरोप नहीं घट सकेगा। दोनों ने ही भारतीय जीवन के मूल स्रोत वैदिक चिन्तनधारा में अपना एकत्व

खोजा है। बहुदेववादी विचारधारा में जो पुरुष-देवता बह रहे थे उनके पौरुष को शिवपुरुष में एकत्र, समन्वित कर और फिर स्त्री-देवताओं में से उषस्, वाक्, गायत्री एवम् अदिति जैसी वेदमाताओं अथवा देवमाताओं के स्वातन्त्र्य को एकान्वित कर दोनों में एक ऐसा सम्बन्ध स्थापित किया कि संपूर्णता जीवन में उतर आई। तभी शैवों और शाक्तों ने एक स्वर में ही कहा –

शैवानामपि शाक्तानां चक्राणां च परस्परम्।
अविनाभाव सम्बन्धं यो जानाति स चक्रवित्।।
त्रिकोणरूपिणी शक्तिर्बिन्दुरूपः परः शिवः।
अविनाभावसम्बंधस्तस्माद् बिन्दुत्रिकोणयोः।।[3]

अभिप्राय इतना ही है कि शैव प्रत्यभिज्ञावादियों ने शिव के माध्यम से एक ऐसी प्रौढ़ दृष्टि या प्रतिभा को प्राप्त किया जिसका लक्ष्य विश्व में विरोध-परिहार था। इसी कारण समस्त दर्शन ज्ञानवाची प्रत्यभिज्ञा शब्द में सिमटाए गए। दूसरी ओर शाक्तों ने स्वातन्त्र्यमयी चितिशक्ति का चिन्तन करते करते एक ऐसी चेतना का अनुसन्धान किया कि जो सर्वत्र शिवमयी थी। उसी का नाम शाक्तों ने प्रतिभा रखा। यह प्रतिभा संपूर्ण मानवजाति के हृदयतत्त्व में स्फुरण होने वाली वह रसदृष्टि थी या भावदृष्टि थी जिसने ज्ञानतत्त्व को निवीर्यता की भूमि से छुड़ा कर सवीर्यता की भूमि पर लाकर खड़ा कर दिया। शैवी प्रत्यभिज्ञा ज्ञानमयी होते हुए भी इसलिए सरस हो उठी क्योंकि प्रतिभा उसके मस्तक पर चन्द्रकला के रूप में आरूढ़ हो गई। अन्यथा प्रत्यभिज्ञा में नवता या आनन्द की भूमिका नहीं बनती। वह थोथी पहचान बनकर आनन्द का दर्शन नहीं, उदासीनता का दर्शन बन जाती।

इस तरह इस प्रबन्ध का विषय "प्रतिभा-सिद्धान्त-विमर्श" इस बात का द्योतक है कि शैवों का त्रिक-दर्शन और शाक्तों का त्रिपुरादर्शन दोनों ही ऊर्ध्व-त्रिकोण और अधः-त्रिकोण बन कर भारतीय दार्शनिक मेधा का एक षट्कोण बनाते हुए फिर एक बिन्दु में समाहित होकर संपूर्ण हो उठते हैं। उस संपूर्णता का नाम है भारतीयता, जो "भा" यानि प्रकाश" की उपासना में रत लोगों की जीवन-चेतना है। जिसका संकेत बाण जैसै महाशैव ने अपने कादम्बरी जैसे प्रसिद्ध कथा–काव्य में जाबालि की प्रतिभा दृष्टि की प्रशंसा में कहा है –

करतलामलकवदखिलं जगदालोकयतां
दिव्येनचक्षुषा भगवतामेवंविधानाम्।[4]

अथवा भवभूति ने ब्रह्मा के मुख से वाल्मीकि के प्रति जो श्लाघावचन कहलवाया है वह कितना सार्थक है –"ऋषे, प्रबुद्धोऽसि वागात्मनि ब्रह्मणि, तद्ब्रूहि रामचरितम्।

अव्याहतज्योतिरार्षं ते चक्षु प्रतिभातु।"[5] सातवें अंक में राम का वचन भी इस बात को पुष्ट करता है कि महर्षियों के प्रज्ञान रजस् से परे अव्याहत होते हैं।[6] लेकिन आर्ष परम्परा को जानने वाले आलोचकों ने यह मानते हुए भी "नानृषिः कविरित्युक्तं ऋषिश्च किल दर्शनात्"[7], बाद में एक ही वाक्-तत्त्व के दो पृथक भेदों को स्वीकार किया कि एक प्रज्ञा है और दूसरी प्रतिभा। दार्शनिक के पास प्रज्ञा और कवि के पास प्रतिभा होती है।[8]

अधिकांश काव्य-शास्त्रियों ने यद्यपि प्रतिभा को नवनवोन्मेषशालिनी कहकर उसके स्वरूप की महनीयता को प्रकट किया था। उनमें से कुन्तक ही ऐसे समीक्षक रहे जिन्होंने प्रत्यभिज्ञा और प्रतिभा को एक साथ मिला कर देखा। "प्राक्तनाद्यतनसंस्कारपरिपाकप्रौढ़ा प्रतिभा काचिदेव कविशक्तिः"[9] कह कर उन्होंने प्राक्तन में "तत्" और अद्यतन में "इदन्ता" लाकर प्रतिभा की परिभाषा को प्रत्यभिज्ञा के ही निकट लाकर खड़ा कर दिया। अतः इस निष्कर्ष में कोई त्रुटि नहीं होगी कि शैवाद्वैत की प्रत्यभिज्ञा और शाक्ताद्वैत की प्रतिभा का जो अविनाभाव है वहीं शैवों के आनन्दवाद, आभासवाद, स्वातन्त्र्यवाद का मूल है जो समस्त भारतीय दार्शनिक मेधा को कम से कम गत 1600 वर्षों से बराबर नए रूप, नए आयाम देता आ रहा है।

यद्यपि त्रिकदर्शन में कहीं भी इस प्रकार का विभाजन नहीं किया गया है कि प्रत्यभिज्ञा और प्रतिभा कोई अलग तत्त्व है। तो भी सारे अध्ययन से एक बात स्पष्ट हो उठती है कि इसमें क्या कारण है कि जहां अन्य सारे भारतीय दर्शन केवल भारतीय प्रमेय-प्रमाण-मीमांसा करके ही शान्त हो गए। उनका प्रभाव यहां के काव्यक्षेत्र और कलाक्षेत्र में नगण्य सा ही दिखाई देता है तथा सौन्दर्य-मीमांसा के प्रति उनका रुख नकारात्मक है। वहां त्रिकदर्शन अपनी गरिमा से उन सभी सिद्धान्तों की सूक्ष्म से सूक्ष्मतर व्याख्याओं का उद्‌घाटन करता है और अपनी ओर से उनमें सौन्दर्यतत्त्व का उन्मेष कर देता है। मैं समझता हूं कि इसमें एक ही कारण है और वह यह कि त्रिकदर्शन प्रत्यभिज्ञा के बल पर स्व-स्वरूप या शिवरूप की पहचान कर लेता है और उसकी सीमा शैवों के सदाशिवतत्त्व तक विस्तृत हो जाती है जिससे बहिर्मुखता का निमेष[10] एवम् आन्तर जीवन का उन्मेष[11] हो जाता है। उसी के बल पर सारा पशुपति, पाश और पशुसम्बन्धी तत्त्वमीमांसा की ग्रन्थि खुल जाती है। दूसरी ओर शैवों की प्रतिभा दृष्टि का वह बहिरुन्मेष है जिसमें सारा बोध रचनात्मक या क्रियात्मक होकर सौन्दर्य की सृष्टि करता है। सभी 36 तत्त्व जो बोध के स्तर पर मौन खड़े होते हैं वे प्रतिभा के आलोक में क्रीडारसोत्सुक होकर किसी अवर्णनीय ताल और लय में नाच उठते हैं। और शास्त्र से कला का, फिर कला से शास्त्र का सर्जन होने लगता है। यह प्रतिभा, प्रकाश का वह बहिरुन्मेष है या खुलना है जिसमें नई से नई सृष्टि के स्तर,

सुषुप्ति से उठकर जाग्रत में चले आते हैं। शैवों के इसी उन्मेष का साक्षात्कार जयशंकर प्रसाद को जब कामायनी की रचना में होता है तो वे एक ओर से तो जल-प्रलय के बाद आलस्य त्यागकर, शीतल जल से मुंह धोकर फिर से जागती हुई वनस्पतियों के उन्मेष का वर्णन करते हैं।[12] तो दूसरी ओर मानवीय अथवा नारी-सौन्दर्य के चरम विकास का आलोक वहां देखते हैं जब श्रद्धा का गोरा कैशोर्य नीले परिधान या वेष के भीतर ही भीतर ऐसे उन्मिषित हो रहा है जैसे कि नील-कृष्ण मेघों के भीतर से विद्युत की ताम्रवर्णी स्वर्णिम कौंध का कोई फूल खिल उठा हो।[13]

प्रसाद की प्रज्ञा में प्रत्यभिज्ञा का स्वरूप यानी आन्तर उन्मेष भी उस समय द्रष्टव्य है जब सृष्टि-प्रलय की स्थिति है जिसमें सृष्टि या 'क्रिएशन' नहीं अपितु दार्शनिक अद्वैतता का ही चतुर्दिक् साम्राज्य है। सर्वत्र सृष्टि में प्रलय की दशा में ऊपर तो सर्वत्र जमी हुई बर्फ थी और नीचे पानी ही पानी –

ऊपर हिम था नीचे जल था एक तरल था एक सघन
एक तत्त्व की ही प्रधानता कहो उसे जड़ या चेतन।[14]

प्रस्तुत समालोचन से हमें यह निष्कर्ष निकालने में सहायता मिल सकती है कि प्रत्यभिज्ञा पद का त्रिकदर्शन के सम्बंध में जो निर्वचन किया जाए उसमें "प्रति" का अर्थ-प्रतीप रूप से उल्टे हुए चैतन्य का शिव की ओर अभिमुख होकर खड़े हो जाना या आमने सामने खड़े हो जाना ही प्रत्यभिज्ञा है। यह स्मरणीय है कि प्रस्तुत पदयोजना में शैवों ने "प्रति और अभि" पदों का अर्थ दूसरे दार्शनिकों से भिन्न रूप में करते हुए "ज्ञा" धातु का प्रयोग अनुसन्धान अर्थ में किया है। अर्थात् प्रकाश की ओर विमर्श का वह उन्मुखीभाव है जिसमें विमर्श शक्ति, प्रति अर्थात् प्रकाश की ओर उन्मुख होकर तादात्म्य के आनन्दभर से मन्थर हो उठती है। और पूर्णाहन्ता का उदय हो जाता है। दूसरी ओर प्रतिभा शब्द की व्युत्पत्ति में भी विमर्श का प्रतीप रूप से भासन रूप निर्वचन कर लेना चाहिए, अर्थात् विमर्श शक्ति प्रकाश-शिव के साथ समवेत होकर सर्जनाभिमुखी होती हुई विश्वविस्तार की ओर लौट जाती है। सृष्टि और संहार की इन दो इतियों के बीच में ही शैवों ने अपनी ही उन शक्ति के दो महान रूपों को पहचान लिया है जिन्हें प्रतिभा और प्रत्यभिज्ञा का नाम दे दिया गया। प्रतिभा शैवों के ईश्वर का यदि वह ऐश्वर्य है जिसके बल पर ईश्वर सृष्टि कर सकता है तो प्रत्यभिज्ञा में सदाशिव के पूर्णाहम् का वह उन्मेष है जो प्रतिभा के परिपूर्ण होने में सहायक होता है।

– सन्दर्भ –

1. ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी, 1-1-1, पृ०-20
2. 'पञ्चप्रकारकृत्योक्ति शिवत्वान्निजकर्मणे।' तन्त्रालोक 13-108

3. ललिताम्बात्रिशतीस्तवः, 103, 104,
4. कादम्बरी, पृ० 95
5. उत्तररामचरितम्, अंक 2, पृ०-113
6. "साक्षात्कृतधर्माणों महर्षयः तेषाममृतसाराणि भगवतां परोरजांसि प्रज्ञानानि न क्वचिद् व्याहन्यन्ते।" वही, पृ० 489
7. भारतीय साहित्यशास्त्र, खण्ड-1, पृ० 297 (भट्टतौत की अप्राप्य कृति काव्यकौतुकम् से उद्धृत)
8. द्वे वर्त्मनी गिरां देव्याः शास्त्रं च कविकर्म च।
प्रज्ञोपज्ञं तयोराद्यं प्रतिभोद्भवसमन्वितम्। वही०, पृ० 421
9. भारतीय साहित्यशास्त्र में उद्धृत, पृ० 445
10. निमेषोऽन्तः सदाशिवः। शिवसूत्रवार्तिक, 1-94
11. ईश्वरो बहिरुन्मेषः। वही०
12. जगी वनस्पतियां अलसायीं, मुख धोतीं शीतल जल से।"
कामायनी, आशा-सर्ग-4
13. नील परिधान बीच सुकुमार खुल रहा मृदुल अधखुला अंग।
खिला हो ज्यों बिजली का फूल, मेघ बन बीच गुलाबी रंग।"
वही०, श्रद्धा सर्ग-8
14. वही० चिन्तासर्ग - 2

प्रथम - उन्मेष
त्रिक-दर्शन का स्वरूप एवम् विकास

"त्रि" शब्द का व्यवहार वैदिक, तांत्रिक, पौराणिक और दार्शनिक साहित्यों में एक विशिष्ट चिन्तन के रूप में भरपूर हुआ है। भारोपीय भाषा - परिवारों में भी इसका मूलरूप किसी न किसी तरह सुरक्षित रहा है। यह निश्चित है कि किसी भी आदिम जाति के मानव को जब भी किसी एक निश्चित संख्यावाची शब्द की उपलब्धि हुई, तब उसकी ज्ञान-प्राप्ति के विषय में पर्याप्त उत्साह-वृद्धि हुई होगी। क्योंकि संख्या तब भी निश्चायक ज्ञान का प्रतीक रही होगी। और आज भी गणितीय ज्ञान के रूप में विज्ञान बनी हुई है। ज्ञान, जो मानवीय चेतना का पहले सामान्य गुण रहता है, उसका संख्यात्मक रूप में जब ग्रहण होता है तो वह विज्ञान बन कर एक विशिष्ट शक्ति के रूप में मनुष्य में उदित होता है। अतः मानवीय सभ्यता और संस्कृति के मूल में गणितीय संख्याओं ने सम्यक्-ख्याति या सम्यक्-बोध उत्पन्न कर के जो योगदान किया है, वह अद्वितीय है और उसी ने सम्पूर्ण शिल्प और शास्त्र को खड़ा किया है। इस संख्या ने ही दर्शन के क्षेत्र में कपिल-सांख्य को निश्चित अर्थ प्रदान किया है। किन्तु परवर्ती मायावादी वेदान्त में संख्या को आविद्यिक मान लेने से बड़ी गड़बड़ हुई। अनिश्चयात्मक बोध के विस्तार के फेर में पड़कर उसे अनिर्वचनीयता के सिद्धान्त को स्वीकार करना पड़ा। इसीलिए वेदान्त के आधार पर किसी निश्चित कला, संस्कृति या विज्ञान का जन्म नहीं हो सका। आचार्य शंकर के जिन मठों मन्दिरों में और आचार-व्यवहारों में भी जिस चेतना का प्रतिफलन हुआ, वह अध्यासवादी नहीं थी। वह शैवों, शाक्तों और वैष्णवों की सौन्दर्य-चेतना रही जो श्री-विद्या और विभिन्न स्तोत्र-काव्यों के रूप में आविर्भूत हुई। ऐसा लगता है कि यदि आचार्य शंकर-सम्मत पंचदेवोपासना को और बुद्ध के भावना-चतुष्टय, स्कन्ध-पंचक और अष्टांगमार्ग को निकाल लिया जाता तो किसी भी ब्राह्मण या बौद्ध संस्कृति के बल पर शिल्प, शास्त्र या दर्शन अथवा लोक-संग्रह का कार्य अनन्त काल के लिए सुषुप्ति और निर्वाण में ही पड़ा रहता।

कहना न होगा कि वैदिक चिन्तन को संख्यावादी "त्रि" शब्द ने जिस प्रकार अभिभूत किया उसी ने त्रैविद्य ऋषियों, वेद-त्रयी, त्र्यग्नियों, त्रिदेवों, त्रिपाद-छन्दों, ओंकार जैसे त्र्यक्षरों, त्रैवर्णिकों और तीन लोकों आदि के निश्चित विज्ञानों को जन्म दिया, जो विश्वमयता और विश्वोत्तीर्णता को एक साथ लेकर भारतीय चेतना में अग्रसर हुए। उसी का नाम आगम-शास्त्र में त्रयी त्रिवर्गनिलया त्रिस्था त्रिपुरमालिनी[1] के नाम से प्रसिद्ध हुआ। वैदिक काल से लेकर अब तक यह त्रिधाभाव ही संपूर्ण भारतीय मानस में प्रभावी रहा है। इस विषय में सन्देह व्यर्थ है। किन्तु एक प्रश्न अवश्य आन्दोलित करता रहा है कि क्या यह त्रिधाभाव

~|

किन्हीं पृथक्-पृथक् तीन तत्त्वों की एकत्र उपलब्धि है या एकत्व का ही त्रित्व में परिणाम हुआ है।

उदाहरण के रूप में हम त्रिफला, त्रिकटु, त्रिदण्ड, त्रिलोक, त्र्यणुक आदि समस्त पदों को लेते हैं, तो स्पष्ट प्रतीत होता है कि ये सब "त्रयाणां भिन्नानां संघः"[2] के आधारभूत संघ या समूह-दर्शन के मूल में बहुत्ववादी (Pluralistic) भेदवाद का बोधक त्रिशब्द है। "संख्या पूर्वो द्विगुः[3] – इस पाणिनि-सूत्र के आधार पर उपरोक्त पदों में त्रित्व की प्रधानता, मात्र भेदवाद की ओर संकेत करती है। फलतः कटुत्व, दण्डत्व, लोकत्व एवम् अणुकत्व आदि अभेद-सामान्य उत्तर-पद होकर गौण हो जाते हैं। किन्तु दूसरी ओर त्रिवृत, त्रिकोण, त्रिगुण, त्र्यम्बक एवम् त्रिवचन (बहुवचन) आदि ऐसे पद हैं जो किसी एक ही अभिन्न तत्त्व की त्रिधा अभिव्यक्ति की ओर संकेत करते हैं। जैसे कि यज्ञसूत्र का एक ही तन्तु अखण्डित रहता हुआ भी त्रित्व से गुणित होकर नवतन्तुमय होता हुआ ब्रह्मग्रन्थि में पुनः अभिन्न पूर्णता को प्राप्त हो जाता है अथवा जैसे कि एक ही सुबन्त या तिङ्न्त पद अपनी एकात्मिका मूल प्रकृति को प्राधान्य से रखते हुए भी प्रत्यय के भेद से तीन वचनों एवम् तीन पुरुषों में त्रित्व को धारण करता हुआ, संज्ञा पदों में 21 (वैदिक संख्या) या 23 (सांख्य तत्त्व) संख्याओं में चला जाता है तथा तिङ्न्त पदों में तीन पुरूषों के तीन तीन वचनों अर्थात् प्रथम पुरुष के तीन क्रियारूप, मध्यम पुरुष के तीन क्रियारूप तथा उत्तम पुरुष के तीन क्रिया रूपों को प्राप्त करता हुआ – "नवचक्रैश्च संसिद्धं श्रीचक्रं शिवयोर्वपुः"[4] की बात को सार्थक करता हुआ प्रत्येक लकार में नौ संख्यावाला होता हुआ संख्या की त्रिगुणता का प्रतिनिधि बन कर श्रीयन्त्र की परिधि में आ जाता है।

इसमें सन्देह नहीं है कि वैय्याकरणों के क्रियापद शैवों की शक्ति की क्रियात्मता से कोई विशेष भिन्नता नहीं रखते। शक्ति क्रियारूपा होकर ही नानात्व को धारण करती है। स्पन्द और निस्पन्द उसी की अवस्थाएं हैं। शैव-दर्शन की वही चिच्छक्ति संकोच और विकास की प्रक्रिया में से होती हुई शब्द और शब्दार्थमय जगत् का सर्जन करती चलती है। यास्क सरीखे महर्षि यदि उत्तरवैदिक-काल में उस स्पन्द-रूपा क्रियाशक्ति को पहचानकर, यदि यह सिद्धान्त-वाक्य कह देते हैं कि सर्वाणि आख्यातजानि नामानि"[5] अर्थात् भाषा के सभी नामपद आख्यातों या मूल क्रिया-रूपों से ही उतर आते हैं, तो इसे अतिशयोक्ति नहीं मानना चाहिए। वस्तुतः समस्त भाषा ही मानसिक क्रियाओं और कर्मेन्द्रिय वाक् के तालमेल का परिणाम हैं। अतः क्रियापदों की तीन पुरुषों और तीन वचनों के माध्यम से नवधा अभिव्यक्ति वैदिकों की त्रिक-सैद्धान्तिक चेतना की ओर संकेत करती है, जो परवर्ती तन्त्र-दर्शन में नवयोनि, नवदुर्गा, नवग्रह और नवरात्र आदि के रूप में कर्म, ज्ञान और उपासनाओं का आधार बन गई है।

व्युत्पत्ति-शास्त्र के अनुसार "त्रि" शब्द का एक और पक्ष सामने आता है। यास्क लिखते हैं कि "त्रयस्तीर्णतमा संख्या"[6] अर्थात् "त्रि" का अर्थ ही "तीर्णतम" या सबसे आगे पहुंचा हुआ गतिशील तत्त्व है। इसीलिए यास्क के परवर्ती टीकाकारों ने "तरतेर्ड्रिः"[7] द्वारा "तृ" धातु से "ड्रि" प्रत्यय लगाकर "त्रि" शब्द का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ दिया है। एक अन्य स्थान पर भी यास्क के द्वारा "त्रित" शब्द का व्युत्पत्त्यर्थ करते हुए यह कहा गया है कि मेधा या विचार-बुद्धि में जो दो की अपेक्षा सर्वाधिक अग्रसर या गतिशील होकर आगे बढ़ा हुआ है वही त्रित या तीर्णतम है।[8] वही चलिततम है। अतः यास्क सम्मत निर्वचन-सिद्धान्त के आधार पर भी निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि सत्ता की गतिशील, क्रियाशील हो उठी चेतनता का नाम ही त्रित्व है और "त्रि" को आधार बनाकर चली हुई कोई भी दर्शन-पद्धति संचरिष्णु होकर गति के माध्यम से कर्म, ज्ञान, इच्छा आदि विभिन्न त्रिपुटियों का सामञ्जस्य साधती है। एक ही विष्णु अपने तीन कदमों से समूल विश्व को मापकर उसे अपने पादरज-कण में समेट लेता हैं।[9]

हमारे अध्ययन का क्षेत्र त्रिक-दर्शन है, जो काश्मीर शैव-दर्शन का अत्यन्त ही प्रकट रूप है। इस दर्शन का त्रिक नाम रखने के पीछे शैव मेधा का कोई निश्चित प्रयोजन रहा होगा। क्योंकि किसी भी वस्तु का नाम उस वस्तु या नामी की सम्पूर्ण चेतना का प्रतीक होता है। अतः नामकरण के पीछे छिपी प्रक्रिया स्पष्ट हो जाए तो उस दर्शन के मूल विषय तक पहुंचने में बहुत सहायता मिल सकती है। प्राचीन वैय्याकरणों की, नैरुक्तों की तत्त्व तक पहुंचने के लिए यही दृष्टि रही।

व्याकरण-शास्त्र की दृष्टि से "त्रिकम्" पद का प्रकृति - प्रत्यय के ज्ञान-पूर्वक विग्रह या विश्लेषण किया जाए तो अर्थ-प्रतिपादन के कई कोण सामने आ जाएगें। जैसे "त्रि" के साथ कन् प्रत्यय का संयोग हुआ है, तो "कन्" प्रत्यय कम से कम नौ विभिन्न अर्थों में प्रयुक्त होता है[10] –

1. देशवाची शब्दों से उत्पन्न होने वाली वस्तु के अर्थ में – जैसे मद्रदेशेभवः मद्रकः।
2. पीत शब्द से रंगे हुए के अर्थ में – जैसे पीतकः।
3. जुड़े हुए या सम्बद्धता-बोधन के अर्थ में – जैसे मत्कः, त्वत्कः आदि।
4. अमुक मूल्य में खरीदे हुए के अर्थ में, जैसे पंचभिः क्रीतः पंचकः।
5. कार्य करने की पद्धति के बोधन के लिए – जैसे ढीला काम करने वाले के लिए–शीतकः।

इसके अतिरिक्त अज्ञातता, अनुकम्पा, लघुता, कुत्सितता, ह्रस्वता एवम् स्वार्थबोधन में भी – पुत्रकः, देवदत्तकः, वृक्षकः, अश्वकः, शूद्रकः, बालकः, आदि पदों में

विशिष्ट अर्थ का बोधन के लिए तद्धितार्थ-वाची "कन्" प्रत्यय का प्रयोग होता है। त्रिकदर्शन के अध्ययन के सन्दर्भ में हम देख सकेंगे कि "त्रि" के साथ "कन्" प्रत्यय का प्रयोग उपर्युक्त लगभग अधिकांश अर्थों के बोधन में हो सकता है। लेकिन "त्रयाणां संघः त्रिकम्"[11] वाला पदविग्रह त्रिक-दर्शन की मूल-भावना के निकट नहीं जाता क्योंकि त्रिक-दर्शन न तो त्रैतवादी है, और न बहुत्ववादी, न ही एकेश्वरवादी। वह मूलतः अद्वैतता का ही द्वैतता की प्रक्रिया में से होकर अद्वैतता में पर्यवसान है। परमशिव द्वारा अपने आनन्दोन्मेष के कारण स्वयम् पर ही धारण की हुई तीन भंगिमाएं हैं। अतः एक ही परमशिव के तीन भङ्गिमाओं से जुड़े होने के अर्थ में या एक शिव की तीन प्रकार से कार्य करने की पद्धति के बोधन के लिए ही यहां "त्रि" के साथ "कन्" का प्रयोग हुआ है – ऐसा मानना चाहिए। क्योंकि कामकलाविलास आदि ग्रन्थों में "प्रकाशमात्रतनुः" परमशिव, "शिवरूप-विमर्शनिर्मलादर्शः" पराभट्टारिका तथ विशद विमर्श रूप दर्पण में प्रतिफलित शिव का स्वरूप "महाबिन्दु" — ये तीनों ही प्रकाश, विमर्श और महाबिन्दु एक ही परमशिव सत्ता का त्रिधा स्फुरण है। यदि "कन्" प्रत्यय को तन्त्र की पद-विच्छेद की रीति से "कन् कान्तौ या दीप्तौ[12] से जोड़ा जा सके तो "त्रिकम्" का अर्थ होगा – एक ही अद्वय सत्ता का तीन रूपों में स्फुरण होना। यह स्फुरत्ता ही उस परमशिव की महासत्ता है। वर्ण-विश्लेषण की तांत्रिक रीति का आश्रय लेकर भी (त्रिक) शब्द का मूल्यांकन किया जा सकता है। त्र इ क् अ के मिश्रण से बने त्रिक शब्द का तन्त्र में प्रयोग इस तरह भी किया जा सकता है कि त्राण,[13] त्रपा [14], और प्रसर[15] आदि पदों में प्रयुक्त "त्र" व्यजंन, गत्यर्थक् "इण्" और अध्ययन अर्थवाली "इङ्" धातुओं का औणादिक "इ" स्वर[16] तथा कान्ति अर्थ में प्रयुक्त "कन्" धातु का "क" तथा उसके पीछे परम-प्रकाश का बोधक अकार यह सारा वर्ण-विन्यास त्रिक पद के मूल में निगूढ़, परम प्रकाश के रूप में खड़ी प्रत्येक-ब्रह्म-सत्ता में से उठते हुए कान्ति, स्फुरण, चिदाभासता तथा उसमें से उठती हुई गतिशीलता और गतिशीलता में से उभरकर संरक्षण एवम् किसी अन्य या भिन्न तत्त्व से होने वाले संकोच या त्रपा तथा अन्त में त्रसर अर्थात पूर्णता के संवेष्टन में शैव और शाक्तदर्शन की चेतना की सांगोपांग शब्दमूर्ति है।

वैदिक त्रिक-सिद्धान्त –

भारतीय वेदविद्या-विशेषज्ञों का मत है कि वेद मूलतः सृष्टिविद्या है। उसके बहुदेववादी सिद्धान्त के पीछे शाक्त-दृष्टि की प्रतिष्ठा है तथा एकदेववादी सिद्धान्त के पीछे शैव-दृष्टि की। फिर दोनों दृष्टियों का समन्वय उपनिषत्काल से पूर्व ही हो चुका था। प्रमाणस्वरूप एक तथ्य स्पष्ट है कि ऋग्वेद के प्राचीन मण्डलों में त्रित शब्द का बहुत बार प्रयोग मिलता है, जिससे प्रतीत होता है कि वेद का बहुदेववाद त्रैतवाद में सिमटकर एक निश्चित दर्शन की ओर अग्रसर हो रहा था जैसे कि समूचे विश्व की मूलसत्ताओं को तीन रूपों में पृथक

रखकर देखना अभीष्ट है। ऋग्वेद के प्रधान देवता अग्नि का अश्व के साथ साम्य दिखाते हुए कहा गया है कि - "हे अश्वाग्नि, तुम यमरूप हो, सूर्यरूप हो, और गोपनीय नियमवाले त्रित तुम्हीं हो। आकाश में तेरे बंधन के तीन स्थान बताए जाते हैं। तथा आकाश, जल और अन्तरिक्ष में तेरे तीन-तीन बंधन स्थान बतलाए जाते हैं।"[17]

ऋग्वेद के प्रधान देवता इन्द्र की स्तुति में बराबर कहा गया है कि इन्द्र ने सोमपान से बढ़ी हुई शक्ति से तीन लोकों अर्थात् आकाश, अन्तरिक्ष और पृथ्वी में अपने वर्चस्व का प्रसार किया है।[18] इन सूक्त मन्त्रों में "त्रिकद्र" या "त्रिकद्रकेषु" जैसे पद समीचीन विश्लेषण की अपेक्षा रखते हैं। इसी सन्दर्भ में आदित्यों की स्तुति भी त्रित्व-दर्शन की दृष्टि से महत्वपूर्ण है। अग्नि इन्द्र, आदित्य तथा तीन पदों में विक्रमण करने वाले विष्णु के साथ तीन अग्नियों, तीन जल एवं तीन पृथिवियों की वैदिक धारणा बाह्य पदार्थ-सत्ता के त्रिविध विभाजन की ओर संकेत करती हैं।[19] किन्तु बाह्यपदार्थों के अधिपति इन पुरुष देवों के साथ जब तीन स्त्री-देवताओं का प्रवेश हो जाता है तो वैदिक देववाद त्रिक-दर्शन की भूमिका बनाता हुआ दृष्टिगत होता है। ये वैदिक देवियां सरस्वती, इला और भारती वाक्, प्राण और मनस्तत्त्व की अधिष्ठात्री बन कर आगम-दर्शन के व्यक्तित्व को सुदृढ़ कर देती हैं।[20]

मेरे विचार में सारा वैदिक कर्मकाण्डीय चिन्तन जो त्रिकुश, तिस्रः समिधः, तीन व्याहृतियों, तीन लोकों आदि के आसपास केन्द्रित था वह ज्ञान-साधन के क्षेत्र में अपने मूल एकत्व पर ही अधिक बल दे रहा था। कर्मवाद का त्रित ज्ञानवाद के एकत्व से अपनी एक भीतरी अन्विति कर गया था। कर्म और ज्ञान की इस वैदिक अन्विति ने ही "स्फुट शिवशक्ति-समागम" की भूमिका को खड़ा किया है। ऋग्वेद के दशम मण्डल को आधुनिक विद्वान भले ही परवर्ती रचना मानें किन्तु दार्शनिक उद्भावनाओं के नए नए रूपों को सुव्यवस्थित कर खड़ा करने में इस मण्डल का बहुत बड़ा हाथ है। इसी के अन्तर्गत "पुरुष" एवम् "नासदीय" जैसे सूक्तों ने भारतीय-शास्त्रकारों की चेतना को खूब आन्दोलित किया है। इसी मण्डल के 59वें सूक्त में "त्रिक" शब्द का सीधा प्रयोग आया है। मन्त्र की भावना है कि "द्युलोक से द्विक और त्रिक के रूप में भेषज (या उपचार) उतरता है। लेकिन पृथ्वी पर एक ही भेषज है।[21] सायण इसके भाष्य के विस्तार में न जाते हुए द्विक का सम्बंध अश्विनी-कुमार- युगल से और "त्रिका" का सम्बंध "इला, सरस्वती और भारती" के त्रिक से जोड़ते हैं। मन्त्र से ऐसा प्रतीत होता है कि द्युलोक से आकर मानव-मात्र का उपचार करने वाले द्विक और त्रिक हैं जो पृथ्वी पर आकर एकक हैं। शैव तत्त्व की दृष्टि में इस मन्त्र में भवरोग के निवर्तक भगवान् वैद्यनाथ शिव का द्युलोक से प्रथम अवतरण शिव-शक्ति के द्विक के रूप में, और फिर दूसरा अवतरण शिवशक्ति तथा उनके सामरस्यात्मक महाबिन्दु रूप त्रिक

के रूप में, तथा पृथिवी पर विश्वरूप एकक के रूप में तीसरा अवतरण है। परम सत् के ये तीन अवतरण ही दशम मण्डल में परवर्ती त्रिक-दर्शन का बीजारोपण कर चुके थे। बाद में शैव, शाक्त और वैष्णव चिन्ताधाराओं में तीन तीन त्रिक ही संपूर्ण भारतीय चेतना की नवचेतनाओं में नवदुर्गाओं और नवावरण में स्फुरित होकर निगमागम-पुराण के रूप में अवस्थित हो गए। अतः शिवशक्ति और विष्णु के सामञ्जस्य के आलोक में ही महिषासुर-मर्दिनी और भण्डासुरविमर्दिनी ललिताश्री के उपाख्यानों का मर्म खोला जा सकता है।

ऋग्वेद के दशम मण्डल के उपरोक्त मंत्र के अतिरिक्त ऋग्वेदीय त्रिपुरोपनिषत् का भी एक मंत्र त्रिक शब्द के साभिप्राय प्रयोग की ओर संकेत करता है।[22] तंत्र की गूढ़ार्थ संकेत-शैली के माध्यम से इस मंत्र में ब्रह्मविद्या के जिस "मूलत्रिक" की बात कही गई है वह त्रिक 'शिव-शक्ति-सदाशिव' का भी हो सकता है और वह त्रिक पंचभूतों में से प्रथम तीन 'आकाश, तेज, पवन' का भी हो सकता है, तथा उपनिषदों के परवर्ती तीन 'तेज, अन्न और अप' का त्रिक भी हो सकता है। प्रस्तुत सन्दर्भ में ब्रह्म-विद्या त्रिपुरा के तीन अक्षरों (ह, स, क) की अधिक व्याख्या करना संप्रदाय और गुरु-निर्देश की दृष्टि से अवांछनीय ही माना जाता है। किन्तु इतना तो स्पष्ट है कि वैदिक काल में यह स्थापना हो चुकी थी कि प्रत्येक सत्ता-पदार्थ मूलतः त्रित्त्वायामी है। यह त्रित्त्वायाम पिण्ड और ब्रह्माण्ड के सभी स्तरों पर कहीं प्रकट, तो कहीं निगूढ़ भाव से है। तंत्र के बिन्दु में यह त्रित्त्व निगूढ़भाव से रहता है। किन्तु बिन्दु जब भी किंचिदुच्छूनता या स्फीतता को प्राप्त करने लगता है तो वह त्रित्त्वायामी हो उठता है। उस मूल योनि के आविर्भाव के साथ 'श्री-यन्त्र' में जितने भी देवी-देवता प्रस्फुरित होने लगते हैं वे सभी त्रिकरूप में ही आविर्भूत हो उठते हैं। सौन्दर्य-लहरी में – "त्रयश्चत्वारिंशत्तवशरणकोणाः परिणताः"[23] के सन्दर्भ में आचार्य शंकर ने इसी तथ्य को शैलीभेद से प्रस्तुत किया है। अतः आगम की रीति से यदि यह कहा जाए कि – "त्रिकमूलमिदं सर्वम्" तो कोई अनौचित्य न होगा। मानवदेह में भी सम्पूर्ण देह की आधारभूत त्रिकास्थि का श्रृंगाट (सिंघाड़ा) रूप में निर्माण किस प्रकार देह की मूल आधारभित्ति बनता है यह देह-विज्ञान में खोजा जा सकता है। किन्तु आगम-शास्त्र का आकर ग्रन्थ सौन्दर्य-लहरी–"प्रभिन्नाभिः शम्भोर्नवभिरपि मूलप्रकृतिभिः"[24] तथा "शिवयुवतिभिः पंचभिरपि"[25] के माध्यम से शिव को भी उर्ध्वयोनि या उर्ध्व-त्रिक के रूप में चित्रित करता है। अतः शिव के सन्दर्भ में यदि त्रिक पद का व्याख्यान यूं भी कर दिया जाए कि "त्रिषु प्रमातृ-प्रमाण-प्रमेयेषु भवः त्रिकः शिवः स एव लिंगभेदेन त्रिका भगवती शक्तिः शिवा, स एव स्त्रीपुम्भेदम्रहितं त्रिकम्। अन्यत्सर्वं भूतं भवद्भविष्यच्च जायमानं सर्वं त्रिकमेव नामरूपजात्यादिगुणभेदेनासंख्यरूपतां प्राप्नोति।"[26] तो दुरूह नहीं मानी जाएगी। इस प्रकार शिव-त्रिक और शिवा-त्रिक का परस्पर संघट्ट बाहरी रूप से वैशेषिकों के (संयुक्ताणुषटकम्)

त्र्यणुक जैसा दिखाई देता है। किन्तु वास्तव में शिव-शक्ति-षट्क में संयोग तो-है ही नहीं, क्योंकि वैशेषिकों का विशेषत्व भी नहीं है। वह तो वाजसनेय ब्राह्मणान्तर्गत उस तत्त्व के समान है जो तदेकं सत् त्रेधाख्यायते[27] अर्थात् वह परम सत् एक होते हुए भी त्रेधा हो जाता है। वस्तुतः वाजसनेय ब्राह्मण का यह वाक्य-खण्ड जब लिखा जा रहा था तब तक यजुर्वेद की माध्यंदिनी शाखा में शिवसंकल्प-सूक्त के साथ ही रुद्राष्टाध्यायी का आविर्भाव हो चुका था। अतः उपरोक्त ब्राह्मण ग्रन्थ का वाक्य शैवी-भावना के सन्दर्भ में - "एकं सत् त्रेधा" द्वारा त्रिक दर्शन की एक अन्य भूमिका बनाता दृष्टिगत होता है । बाद में इसी त्रिक को कालिदास ने "वैष्णव-त्रिक"[28] के साथ भी मिला दिया है।

कुमारसम्भवम् में जो त्रिक - "एकैव मूर्तिः बिभिदे त्रिधा सा"[29] द्वारा प्रकट हुआ था वही त्रिक "रघुवंश" में राम के सन्दर्भ में भी लागू हो गया। दशम सर्ग में राम के शासन काल में देवताओं ने राम की स्तुति करते हुए एक ही राम की त्रेधा अभिव्यक्ति और क्रियाशीलता को स्पष्ट कर दिया है।[30] परम्परा-प्राप्त यह त्रिक-दर्शन बाण की कादम्बरी में मंगल-श्लोकों पर भी हावी है। और इतिहास की दृष्टि से देखें तो शुंगकाल से लेकर संपूर्ण गुप्तकाल और हर्षवर्धन के आगे तक भी यह त्रिक या त्रिमूर्ति-दर्शन, मूर्तिकला, काव्य आदि अन्य कलाओं पर भी प्रमाव बनाए हुए है। कारण यही रहा है कि वैदिक त्रिक-दर्शन आरम्भ से ही एक ऐसा सत्य बन कर उठा कि उसने बाह्य जगत् के साक्षात्कार से लेकर अन्तर्जगत् के प्रत्येक कोने तक की सही व्याख्या उपलब्ध करा दी थी। अधिभूत अधिदैवत और अध्यात्म में वर्णित उपनिषदों का त्रिक इतना बृहदाकार था कि उसके एक एक कोण की व्याख्या से में भी त्रिक निकलने लगे। कहीं अग्नि, वायु और आदित्य का त्रिक, कहीं ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र का त्रिक तो कहीं बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा का त्रिक उपनिषदों में सर्वत्र दिखाई देते हैं।

वैदिक उषा देवी की स्तुति में तथा "तिस्रः देवी इडा सरस्वती और मही (भारती)" की स्तुति में गाए गए सूक्तों में प्रकाशत्व का जो सगुण साकार रूप था उनका वैदिक वाक्सूक्तों में पराभौतिक रूप अधिक उभर कर आया था। लेकिन उपनिषदों में इन दोनों रूपों का किसी महादेव के सन्दर्भ में अन्वितीकरण कुछ इस ढंग से हुआ कि परवर्ती तन्त्र शास्त्र के आभासवाद, प्रतिबिम्बवाद और स्वातन्त्र्यवाद की भूमिका वहीं बन गई थी। उदाहरणतया सामवेद के तलवकार ब्राह्मण के अन्तर्गत आए केन उपनिषत् में अग्नि, वायु और इन्द्र के त्रिदेव की, यक्षरूप में प्रकट हुए ब्रह्म द्वारा शक्ति-परीक्षा का उपाख्यान है। यक्ष ने कहा कि - "हे अग्नि तुम इस लघु तृण को दग्ध करके दिखाओ।" अग्नि उस तिनके को जलाने के लिए पूरे वेग से उस पर टूट पड़ा। पर उसका कुछ न कर सका।[31] यह उसकी भौतिक शक्ति की एक सीमा थी। लज्जित होकर जब तीनों देवता उस यक्ष को जानने के लिए आगे

बढ़े तो यक्ष अन्तर्धान हो गया। उसके स्थान पर उमाशक्ति का प्राकट्य हुआ। उसने देवताओं से कहा कि – "वह यक्ष और कोई नहीं ब्रह्म ही था। जिसकी शक्ति से आप सब विजयी रहे हो।"[32] क्या ब्रह्मन् का यक्ष रूप में हैमवती उमा के रूप में प्रादुर्भाव शिव-शिवा का और उसकी शक्ति का प्रस्फुरण नहीं था ?

इसी प्रकार कृष्ण-यजुर्वेद की कठ-शाखा के अन्तर्गत कठोपनिषत् में नचिकेता द्वारा यम से जो दूसरा वर मांगा गया है। उसमें अग्नि-विज्ञान के माध्यम से यम नचिकेता को जब तीन अग्नियों का रहस्य समझाता है, तब अग्निचयन के तीन तैजस रूपों के साथ एक ऐसे रूप की ओर भी संकेत करता है जो बाहर के जगत् में नहीं अपितु गुहानिहित है। अग्नि का वह रूप दिव्य है और अनन्तलोकों की प्राप्ति कराने वाला है।[33] प्रकाश के इस गुहानिहित अतीन्द्रिय अध्यात्मरूप को उत्तर-वैदिक काल में वाक् रूप में और वर्णमाला के अक्षरों के रूप में भी जान लिया गया था।[34] वाक् की ये सारी वैदिक धारणाएं प्रकाश के चैतन्य रूप की अभिव्यक्ति थी जो परवर्ती तन्त्र और आगम में उत्तरोत्तर विकसित होकर मालिनीतन्त्र और मालिनीविजयोत्तरतन्त्र का प्रधान प्रतिपाद्य बन गई।

अतएव त्रिक-दर्शन में प्रकाश और विमर्श की जो बात चली उसमें वेदों और उपनिषदों की प्रकाशोपासना को विभिन्न स्तरों पर अनुभव करके ही चिदंबर, चित्प्रकाश, चिद्विलास, चिद्घन एवम् चित्सूर्य आदि मान्यताओं को पल्लवित किया गया। सम्भवतः अद्वैत-वेदान्त के चिदाकाश, दहराकाश, चिदाभास आदि परिभाषाओं के पीछे भी शून्याकाश का अभिप्राय न होकर आकाश शब्द का प्रकाश अर्थ ही रहा है। जिसे शांकर वेदान्त ने बौद्ध प्रभाव के कारण आकाश पद को अतिनीरूपता की ओर ले जाने के फेर में विवर्तवाद के सन्दर्भ में प्रयुक्त कर दिया। और फिर तत्त्व-साक्षात्कार के लिए जिन साधनों की अपेक्षा की गई उनका भी त्रिक बन गया।[35] इतना ही नहीं, जीव के तीन शरीरों की कल्पना उसके द्वारा भुक्त अन्न की भी त्रिक रूप में परिणति[36] उससे बनने वाले त्रिधातु-वात, पित्त, कफ का त्रिदोष, अन्तकरण का त्रिक तथा उसमें रहने वाला दुखत्रिक, ये सभी मनुष्य की शारीरिक मानसिक या अधिमानसिक जीवन की विस्तृत व्याख्याएं त्रिक-दृष्टि के आधार पर की गई हैं। जो हमारी जीवन-दृष्टि की परिपूर्णता के परम साध्य, सत्-चित्-आनन्द के अभिन्न त्रिक-ब्रह्म को भी – "ऊर्ध्वमूलं त्रिपाद् ब्रह्म"[37] कह कर ही बोधित करती गयीं। इसी दृष्टि की व्यापकता और वैज्ञानिकता का अनुभव ही योगतत्त्वोपनिषद् में समाहित है।[38]

वस्तुतः आर्य-संस्कृति के आरम्भ से ही त्रिक-चेतना ने लोकमानस को ऐसा पकड़ा कि उससे जैन, बौद्ध एवम् अन्य चिन्तन-धाराएं भी प्रभावित हुए बगैर न रह सकीं। जैन तीर्थकरों के मूर्ति-विग्रहों पर चक्र-चिह्न, सिंह और वृषभ की मूर्तियों के जुड़ने के साथ-

साथ त्रिशूल और त्रिछत्र लगे रहना इस बात का प्रतीक है कि शक्ति-त्रिक का सिद्धान्त जैनों में भी बहुत मान्य रहा।[39] तीसरे तीर्थंकर श्री शंभवनाथ के शासन-शास्त्र में देव या यक्ष-त्रिमुख का ध्यान-पद्य भी इसी तथ्य की पुष्टि करता है – "त्रिनेत्र स्त्रिमुखःश्यामः षड्बाहुर्बर्हिवाहनः।[40] इसके अतिरिक्त बौद्ध दर्शन ने वैराग्य-प्रमुख होकर भी जिन प्रतीकों का निर्माण किया, उनमें चक्र और त्रिशूल का महत्वपूर्ण स्थान रहा है। इनमें चक्र जो क्रियाशील संक्रमणशक्ति का प्रतीक है, वह दो तरह का है। एक काल-चक्र और दूसरा धर्म-चक्र। इनमें से विवर्तना, परिणाम और उपरति के त्रिक वाला तो काल-चक्र है और शील, समाधि और प्रज्ञा के त्रिक वाला धर्म-चक्र है।[41] इसके साथ ही प्राप्त होने वाले त्रिशूल की स्थिति यह है कि वह त्रि-शक्ति, त्रिगुण एवम् त्रिरत्न का ही संकेत देता है। बौद्धों के ही स्वीकृत इस तथ्य को स्पष्ट करते हुए आचार्य अभिनवगुप्त ने कहा है कि – "चौदहवें धाम में ही त्रिशक्ति का प्राकट्य है। उसी को शास्ता बुद्ध ने त्रिशूल कहा है। वस्तुतः चंचल हुई त्रिकशक्ति ही त्रिशूल बन जाती है। उसमें प्रवेश करते ही योगी निरंजन पद को प्राप्त कर लेता है।"[42]

इतना ही नहीं, बौद्धों में चक्र और त्रिशूल तो भरहुत और सांची के स्तूपों के द्वारों पर पाए ही जाते हैं साथ ही साथ ये चक्र और त्रिशूल बुद्ध और बौद्ध देवियों के प्रभामण्डल के ऊपर भी बने रहते हैं। और बौद्धों के लोक-जीवन में बुद्ध, धर्मम और संघ के त्रिशरण के रूप में भी त्रिक की ही अभिव्यक्ति हुई है। किन्तु बौद्धों के त्रिरत्न-सिद्धान्त में त्रिकदर्शन कैसे समाविष्ट हुआ, इसके लिए पाश्चात्य विद्वान् हैवेल के इन विचारों को देखा जा सकता है जिनमें उन्होंने आर्यों के त्रिक या त्रिमूर्ति को एक ही ईश्वर के तीन रूप कहा है और ये तीनों एक ही ईश्वर के रूप को बनाते हैं। त्रिशक्ति के इस रूप तक हैवेल ने सही तर्क के माध्यम से पहुंचने का सुन्दर प्रयत्न किया है –

The Indian conception of the Trimurti, the three aspects of the one may be considered from many different stand points. Originally like all other Indo-Aryan conceptions, it was derived from the life of Ancient Indian village community. The first aspect was Brahma, The creator, whom all Aryans worshipped as the cause of all things, or Buddha the great Aryan Guru. It was the symbol of the spiritual wisdom of Aryan race. The second aspect was justice, the pillar of Aryan Society, represented by the village council, or by head of the tribe. The third was the Dharma, the Law spiritual and temporal, revealed and recorded by the Vedas. And as all three aspects were interchangeable and the manifestations of universal law, together they represented God as Three in one and one in Three.[43]

उपरोक्त पंक्तियों को देखकर लगता है कि बौद्ध धर्म के त्रिरत्न या त्रिमूर्ति के सम्पर्क में आने के बाद ही ईसाई-धर्म में भी त्रिरत्न का ही बदला हुआ रूप – 1 गॉड दी फादर 2 गॉड दी सन 3 गॉड दी होली घोस्ट – का त्रिक हो सकता है। फिर बाद में ईसाई और बौद्ध धर्म के मिश्रित प्रभाव से ही इस्लाम का त्रिरत्न "मुहम्मद, दीन और मुस्लिम समाज का उद्भव भी माना जा सकता है।[44]

इस सारे अध्ययन से एक निष्कर्ष तो निकलता है कि ऋग्वेद में जो इन्द्र-अग्नि, वरुण का त्रिक, द्यु-अन्तरिक्ष-पृथिवी का त्रिक, इला-सरस्वती-भारती का देवी-त्रिक ऋषि-दृष्टि के सम्मुख आया था, वह त्रिक फैल कर इतना बहु-आयामी हो गया कि ब्राह्मण, उपनिषद्, सूत्रग्रन्थ, पुराण, महाकाव्य, षट्शास्त्र, आगम और तन्त्र सभी के सभी भारतीय वाङ्मय के रूप, असंख्य त्रिकों की कल्पनाओं से अभिभूत हो उठे। इन समस्त त्रिकों का किसी एक त्रिक में समाहार, ईसा की तीसरी चौथी शताब्दियों के आसपास के भारतीय मानस की एक गहरी आवश्यकता थी। इसी की पूर्ति भारतीय इतिहास की चेतनाधारा ने शिवाग्नि कुण्ड में पुराने समस्त त्रिकों को गला-ढला कर एक नए त्रिक-दर्शन की सर्जना की। इस शिवाग्नि के पूर्ण प्रज्वलन का साक्षात्कार हिमालय की उन पश्चिमोत्तरी हिम शिलाओं पर से हुआ जिन्हें कश्यप और दुर्वासा जैसे महर्षियों के वासस्थान होने का गौरव प्राप्त था। यह कश्यप ही काल-महासागर में भारतीय मेधा के मन्थन-दण्ड को धारण करने वाला कच्छप बना। और दुर्वासा कोई ऐसा ऋषि नहीं था जो गन्दे कपड़ों में ही रहना पसन्द करता रहा हो। अपितु यह वह महात्मा रहा जो ज्ञानसिद्धि के क्षेत्र में कालाग्नि रुद्र के समान निरावरण सत्य के समान रहता रहा। पर भक्तानुग्रह के प्रयोजन से ओढ़े वस्त्र या आवरणों को सरलता से अनपेक्ष भाव से ग्रहण करता रहा। इन्हीं के द्वारा त्रिक-दर्शन का एक नया संस्करण बन कर तैयार हुआ जिसके शीर्ष अध्याय में प्रत्यभिज्ञा का अद्वैत था, तो अगले अध्यायों में कुल-दृष्टि, क्रम-दृष्टि और स्पन्द-दृष्टियों का उन्मेष था। पौराणिक गाथाओं के अनुसार अत्रि और अनसूया के एक पुत्र दुर्वासा में परमशिव–चेतना का अवतरण हुआ तो उन्हीं के दूसरे पुत्र दत्तात्रेय में श्री श्री महात्रिपुरसुन्दरी–चेतना का आविर्भाव हुआ। इस आविर्भाव-कथा को पुरानी औपनिषद् या यास्कीय निर्वचन-प्रणाली से कहा जाए तो कहा जा सकता है कि असूयारहित (अनसूया), अत्रि (भेद त्रयवर्जित) से शैवों का एक त्रिक और शाक्तों की त्रिपुरा का एक त्रिक आपस में ऊर्ध्व-अधः भाव में स्थित होकर एक ऐसे षट्-कोण को बनाते हैं जिसमें बिन्दुस्थान पर निगमागम है तो छः कोणों में वेद के छः अंगों और साथ ही छः दर्शनों का अद्भुत सामरस्य है। इन समस्त महाविद्याओं के महामेलाप का उदय ही षट्कोण का वह सामञ्जस्य है जिसके पर्यंक पर निगम-पुरुष कामेश्वर और आगमात्मिका महाकामेश्वरी अद्वयभाव में विभोर हैं।

त्रिक-दर्शन –

एक दार्शनिक प्रणाली के रूप में त्रिक-दर्शन का उद्भव और विकास ईस्वी चतुर्थ शताब्दी से उन्नीसवीं शताब्दी के बीच का काल माना जा सकता है। इस बीच इस दर्शन के त्रिक होने की सार्थकता को लेकर कई मतभेद उभरते रहे हैं, जिसके कारण निश्चित रूप से यह ढूंढ पाना कठिन हो जाता है कि वह एकमात्र कौन सा कारण हो सकता है जो इसके त्रिक होने में और इस दृष्टि की निश्चित मर्यादाओं को बांधने में सहायक हो।

प्रत्यभिज्ञाहृदय में त्रिकमत की कौल और तांत्रिक मतों से तुलना करते हुए कहा गया है कि तांत्रिक लोग आत्मतत्त्व को विश्वोत्तीर्ण या विश्वातीत मानते हैं। लेकिन त्रिकादिदर्शनवित् लोग आत्मा को युगपद्भाव से विश्वोत्तीर्ण और विश्वमय एक साथ ही मानते हैं।[45] क्षेमराज के उक्त वाक्य में त्रिक आदि कहने के पीछे यह अर्थ लगाते हैं कि – "नरशक्तिशिवात्मकं त्रिकम्[46]" इस त्रिक दर्शन को षडर्धशासन भी कहा जाता है क्योंकि 'षड्' का आधा एक त्रिक शैवों का है और दूसरा आधा त्रिक शाक्तों के त्रिपुरादर्शन या महार्थ दर्शन का है। इस दूसरे त्रिक का आविर्भाव प्रथम के साथ ही हुआ। क्योंकि जहां पर वेद में समस्त देव-शक्तियों को आत्मसात् करने वाले वेद-पुरुष या शिवपुरुष का ऋषियों को पता चला तो उन्होंने उस पुरुष की शक्ति रूपा महिमा को भी साथ देखते हुए कहा कि "एतावानस्य महिमातो ज्यायांश्च पुरुषः"[47] तथा "इन्द्रोमायाभिः पुरुरूप ईयते"[48] अर्थात् इन्द्र-पुरुष को बहुरूपता में आने के लिए इसी चिति-शक्ति का सहयोग रखना पड़ेगा। यह शक्ति चिद्रूपा है, इस तथ्य को राजयोगी और वेदान्ती भी जानते थे।[49] किन्तु लक्ष्य की भिन्नता के कारण माया या शक्ति की चैतन्यरूपता को आगे तक नहीं पकड़ पाए। शैवों ने कौलों ने शक्ति के इस पक्ष को बहुत गहराई से जाना और इस बात को खोजा कि आखिर चित्पुरुष और अचित् प्रकृति या माया को परस्पर सम्बंधित करने वाला तत्त्व क्या हो सकता है। इसी खोज़ में साक्षात्कार संविद्-भट्टारिका चितिशक्ति से हुआ जो स्वयं भी त्रिकरूपा थी।[50] चितिशक्ति प्रत्यभिज्ञा दर्शन का हृदय है। सूत्रों में इस चितिशक्ति के त्रिक का ही विस्तार किया गया है। शिव की कोई विशेष चर्चा नहीं की है। "स्तव-चिन्तामणि" में इस चितिशक्ति को ऋक्, यजु और साम का सार कहा है। उस सुन्दरी के गाम्भीर्य और सौन्दर्य से ही वेदरूपा आज्ञा का स्फुरण होता है।[51] यह चितिशक्ति वेदत्रयी के अन्तर्गत समस्त त्रिकों का प्रतिनिधित्व करती है।

किन्तु आगमशास्त्र के अन्तर्गत आने वाले त्रिक-दर्शन का प्रतिनिधित्व शिव करते हैं। तंत्रालोक के प्रथम आह्निक में अभिनवगुप्त ने तंत्र या आगम की त्रिधा स्थिति को बताते हुए कहा है कि रूद्र, शिव और भैरव नामक तंत्र क्रमशः एक ही ज्ञान सत्ता का तीन रूपों

में विकास है। यह ज्ञान सत्ता भेद-मार्ग, भेदाभेद मार्ग और अभेद-मार्ग का त्रिक है।[52] किन्तु इसी आह्निक में अभिनवगुप्त त्रिक-दर्शन के विशिष्ट साहित्य की ओर संकेत करते हुए कहते हैं – "दस शिवागम, अठारह रूद्रागम और चौंसठ भैरवागमों के रूप में जो 92 आगम हैं उन सब का सार त्रिकशास्त्र में है और त्रिकशास्त्र का भी सार मालिनी मत में है।[53] लेकिन तंत्रालोक में ही फिर यह कहा गया है कि 92 आगमों में सिद्धा, नामक और मालिनी आगमों की प्रधानता रहने से तथा "पर, अपर और परापर"[54] के त्रिकों का वर्णन होने के कारण इस दर्शन का नाम त्रिक दर्शन पड़ गया है। इस दृष्टि से एक विशिष्ट आगम त्रिक का दर्शन अथवा साधन मार्ग की त्रिकता की प्रधानता के कारण ही इस दर्शन का त्रिक नाम पड़ा।

किन्तु तंत्रालोककार ने आगम शास्त्र के विभिन्न संदर्भों में त्रिक शब्द को अति व्यापकता प्रदान की है। उनके अनुसार प्रथमतः तो त्रिक शब्द कुल मार्ग में शक्तित्रय के रूप में प्रयुक्त होता है।[55] वहां तीन शक्तियों का संकेत नागरी वर्णमाला के प्रथम तीन वर्ण – अ, इ, उ करते हैं। "अ" एक तरफ शैवों के "अनुत्तर" का बोध कराता है तो साथ ही कौलों की परा प्रतिभा का भी बोध कराता है। "इ" वर्ण इच्छाशक्ति और कौलों की कौलिकी शक्ति का तथा "उ"वर्ण शैवों के उन्मेष तथा कौलों की सूक्ष्म कुण्डलिनी का द्योतन कराता है, यही इच्छा, ज्ञान, क्रिया का रहस्य बताता है। इस सन्दर्भ में त्रिक शब्द शक्ति, संघ या समूह का ही वाचक है। इसमें "कन्" प्रत्यय का प्रयोग पाणिनि सूत्रों के अनुसार हुआ है।[56]

त्रिक शब्द का प्रयोग मात्र कौल शक्ति के लिए भी होता है।[57] त्रिक कुल से अभिन्न है, और कुल शक्ति का विश्वात्मक विकास है। लेकिन उस ज्ञान का ग्रहण आरोहण क्रम से विमर्श शक्ति या परा प्रतिभा से ही हो सकता है। यह शक्ति तृतीया है। इसी से परशिव के ज्ञान की सम्भावना को देखकर त्रिक की व्युत्पत्ति ऐसे भी कर दी जाती है – "तृतीयया ग्रहणमस्येति त्रिककुलम्[58] यहां पाणिनी के सूत्र[59] के अनुसार कन् प्रत्यय का प्रयोग किसी माध्यम से वस्तु ग्रहण कराने से लोप कर दिया गया है। यहां त्रिक पद का प्रयोग "शक्त्या शक्तिमतो ग्रहणम्" के अर्थ में हुआ है। "परात्रिंशिका विवरण" में इसी तथ्य को उद्घाटित करते हुए कहा गया है कि जैसे प्रकाश से दीपक का, किरणों से सूर्य का ठीक दिशा में होना पता चलता है वैसे ही शक्ति से शिव का ज्ञान होता है।[60]

लेकिन शक्ति के लिए त्रिक परिभाषा का प्रयोग इस अर्थ में भी हो सकता है - - "त्रयः अंशा यस्य" अर्थात् अनुत्तर, इच्छा और उन्मेष जिसके तीन अंश है, इस अर्थ में भी पाणिनि के सूत्र[61] से त्रिक के साथ कन् प्रत्यय का प्रयोग हो जाएगा।

परात्रिंशिका के 18वें पद्य की भूमिका बनाने से पूर्व अभिनवगुप्त शाक्तों के जिस बीजाक्षर को त्रिक का नाम देते हैं, वह बीज तीन वर्णों – 'स' 'औ' ':' '(विसर्ग)' का संघट्ट

है। सौः ऐसा महामंत्र है जो मंत्र, मंत्रेश और मंत्रमहेश के स्तरों से भी ऊपर है। इस 'सौः नामक त्रिक के चिन्तन से शेष सभी साधनों का त्याग करके भी जिज्ञासु परासत्ता से अपना सम्पर्क साध लेता है। वह शिवयोगी अकुल पद की प्राप्ति करता है।

उपरोक्त आगम शास्त्र में आए कुछ त्रिक-सम्बन्धी धारणाओं का विवेचन कर चुकने के बाद हम एक निष्कर्ष पर पहुंच सकते हैं कि यह शब्द आगम में ऐसी चिन्ताधारा के लिए प्रयुक्त हुआ है जिसमें शिवशक्ति के भेद, भेदाभेद एवम् अभेद सम्बंधों का साक्षात्कार है। प्रत्यभिज्ञा-दर्शन में कौल, क्रम, स्पन्द आदि सभी दृष्टियों का यथेष्ट समावेश हो जाने से सामान्यतः त्रिक पद प्रत्यभिज्ञा-दर्शन के लिए ही प्रयुक्त हुआ है - ऐसा माना जाने लगा है। हालांकि कौलों के मतानुसार कौल मत से ऊपर कुछ नहीं है।[62]

वस्तुतः भारतीय विद्याओं में दर्शन और शास्त्र शब्द का प्रयोग बहुत ही साभिप्राय है। मानवीय चेतना चक्षु के माध्यम से ही अपने आसपास के बृहत्तर पर्यावरण से सम्बन्ध स्थापित करती है। अन्य किसी भी इन्द्रिय के माध्यम से विराट् के साथ इतना बड़ा सम्बन्ध स्थापित नहीं होता। इसलिए शाक्तों और शैवों में नौ गुरूओं या नौ नाथों के तीन-तीन त्रिकों में से श्री प्रकाशानन्द (शिव), श्री विमर्शानन्द (शक्ति), श्री अनन्तानन्द के त्रिक का दोनों कानों और मुख विवर में ध्यान करने के बाद जो दूसरा गुरु त्रिक है उसमें श्री ज्ञानानन्द नाथ, श्री सत्यानन्दनाथ, और श्री पूर्णानन्द नाथ को क्रमशः दोनों नेत्रों में और उपस्थ इन्द्रिय में सर्वदा स्थित माना जाता है। अभिप्राय यह है कि प्रथम गुरु त्रिक अनुभवैकगम्य स्वात्म ज्ञान की ओर संकेत करते हैं। किन्तु दूसरा त्रिक रूप, रंग और आनन्द के माध्यम से मानवमात्र को जगत् के साथ जोड़ कर आत्म विस्तार की ओर ले जाकर द्रष्टा, दृश्य और दृष्टि के बारे में चिन्तन करना सिखाता है। अतः विचार की प्रक्रिया का आरम्भ चक्षु ही होने से विचार जगत् का अधिष्ठाता यदि चक्षु या दृष्टि को ही मान लिया जाए तो विचार शास्त्र को दर्शन-शास्त्र कहना उचित होगा।

शास्त्र का सम्बंध शब्द के शासन से है। इसीलिए श्रोत्रेन्द्रिय और वागिन्द्रिय का प्रथम त्रिक इस ओर स्पष्ट करता है कि श्रोत्र का काम शब्द का ग्रहण या बोध कराना है, जब कि वागिन्द्रिय का काम शब्द को उत्पन्न करना है। अतः इस क्षेत्र में शब्द का शासन है बौद्धिक ऊहापोह का ही नहीं। इस भूमिका में विचार के शासन में शब्द चलता है। लेकिन आगमशास्त्र ने इन दोनों भूमिकाओं का एकत्र सन्निवेश कर दर्शन और शास्त्र, अर्थ और वाक् के सभी क्षेत्रों को स्वाधीन कर लिया है।

गंभीरता से देखें तो शैव और शाक्त त्रिकदर्शनों की मूल-भूमिका वैदिक या उपनिषदीय है। वहां श्रुति के माध्यम से सर्वत्र प्रकाश की ही उपासना है, अवतारणा है और

प्रकाशोपासना के माध्यम से श्रुतिमूल तक पहुंचना है। यानि उपासना में प्रकाश और नाद का सामरस्य सूर्य के प्रकाश के सम्मुख सौरमंत्र पाठ, अग्नि-प्रज्वलन के सान्निध्य में अग्निदैवत मंत्रों का पाठ, ध्वनि और प्रकाश में संगति समझने की चेष्टा है। यही कारण था कि आरम्भ में ही भारतीयों ने द्रष्टा-पुरुष ऐसे ऋषि की कल्पना की जो प्रकाश में से उतरती उन्नत ध्वनि-तरंगों को भी देखता था और प्रकाश में से वाक्सामर्थ्य ग्रहण कर लेता था। इस ऋषि ने ही परवर्ती काल में भारतीय-दर्शन को दर्शन शब्द प्रदान किया और विचार एवम् चिन्तन की सीमा को स्वात्म प्रत्यक्ष तक ले जाकर छोड़ा।

शैवों और शाक्तों ने इन दोनों उपासनाओं को आत्मसात् कर परवर्ती काल के मानवों की नीचे की ओर अवरोहण करती हुई चेतना को भी ध्यान में रखा और चेतना के ऊर्ध्व आर्ष केन्द्रों को निम्न केन्द्रों के साथ संयुक्त करके अध्यात्म तत्त्व को एक ऐसी सहजता में ले जा खड़ा किया जहाँ से परवर्ती पीढ़ियों के लोग भी उस चेतना की पूर्णता के साथ जुड़ सकने में समर्थ हुए। इसलिए अरविन्द सरीखे कुछ मनीषियों का ऐसा सोचना ठीक भी लगता है कि तंत्र और आगम द्वारा चेतना के सूक्ष्मातिसूक्ष्म स्तरों के उद्घाटन से मानवीय चेतना केवल ऊर्ध्व केन्द्रों तक ही सीमित नहीं रही अपितु सिर से पांव तक सभी भौतिक, अतिभौतिक केन्द्रों तक उस चेतना का तंत्र द्वारा अवतरण पूर्ण हुआ। प्रकाश जो केवल द्युलोक-स्थानीय या सहस्रार-स्थानीय था वह पृथ्वी पर रखे मनुष्य के पादाँगुष्ठ तक में उतर आया। और नाद जो सृष्टि का आदि नाद था वह कौलों के शरीर में षोडश आधार-स्थानों में अखण्ड रूप में ध्वनित होने लगा।

त्रिकदर्शन का शाखा भेद :-

यह ठीक है कि बहुत से विद्वान त्रिक-दर्शन को प्रत्यभिज्ञा से अभिन्न मान कर चलते हैं। सर्वदर्शनसंग्रह की टीका करते हुए डा० उमाशंकर ऋषि कहते हैं– "प्रत्यभिज्ञा दर्शन का वास्तव में त्रिक-दर्शन नाम होना चाहिए, क्योंकि इसी से पूरे दर्शन का बोध होता है। कुल, क्रम और स्पन्द सम्प्रदाय तो इसी के अंग उपांग मात्र हैं। दुर्वासा के तीन पुत्रों त्र्यम्बक, आमर्दक तथा श्रीनाथ में से त्र्यम्बक के द्वारा ही त्रिक दर्शन का प्रवर्तन हुआ। क्योंकि सोमानन्द स्वयं को त्र्यम्बक से 19वीं पीढ़ी में रखते हैं तो त्र्यम्बक का काल अनुमानतः चौथी और पांचवी शताब्दी के मध्य में कहीं हो सकता है। वसुगुप्त जिन्होंने "शिवसूत्राणि" द्वारा त्रिक-दर्शन के **अद्वैत** पक्ष पर अधिक बल दिया, जिनका काल 825 ई० निर्धारित किया जाता है। तथा "**शिवदृष्टि**" के रचयिता सोमानन्द का काल 850 ई० स्वीकार कर लिया जाता है। वस्तुतः **सोमानन्द** ने ही "शिवदृष्टि" द्वारा त्रिकदर्शन की प्रत्यभिज्ञा-शाखा का प्रवर्तन किया जिसमें **शैवदर्शन** की चिन्तन-प्रक्रिया को पहली बार तर्क एवम् अधिकाधिक युक्तियों से उपोद्बलित करके सुप्रतिष्ठित किया। इसी के बाद उन्हीं के पुत्र उत्पल (900 ई०) ने ईश्वर

प्रत्यभिज्ञाकारिका, ईश्वर प्रत्यभिज्ञावृत्ति, क्षेत्रावली एवम् ईश्वर-प्रत्यभिज्ञा टीका आदि ग्यारह के लगभग ग्रन्थ लिखकर प्रत्यभिज्ञा के दार्शनिक समालोचन की भूमिका को विशेष रूप से उपबृंहित किया। किन्तु लक्ष्मण गुप्त के शिष्य तथा नरसिंह गुप्त के पुत्र महामहाश्वेराचार्य अभिनवगुप्त ने दशम शताब्दी में त्रिकदर्शन को साहित्य और दर्शन तथा कला के क्षेत्र में अद्भुत प्रतिष्ठा प्रदान की। त्रिकदर्शन पर लिखे इनके ग्रन्थों में से मालिनी-विजय-वार्तिक, परात्रिंशिका-विवृति, तंत्रालोक, तंत्रासार, परमार्थसार, ईश्वर-प्रत्यभिज्ञाविमर्शनी, ईश्वर प्रत्यभिज्ञाविवृति विमर्शनी ने शैव चेतना के इतिहास में अनुपम योगदान किया है।[63]

इसके अनन्तर अभिनव के ही शिष्य क्षेमराज (975-1050ई०) उसके शिष्य योगराज (1075 ई०) तथा सुभट दत्त (1200ई०), जयरथ (1225 ई०), भास्कर-कण्ठ (1750) एवम् वार्तिककार वरदराज का नाम उल्लेखनीय योगदान के लिए प्रसिद्ध है। त्रिकदर्शन की इस विपुल ज्ञानराशि के अतिरिक्त कुछ अन्य ऐसे ग्रन्थ भी है जो अभी ठीक से प्रकाश में नहीं आए। उनका परिचय मात्र ही प्राप्त होता है। जैसे "प्रत्यभिज्ञाहृदय" और "स्पन्द प्रदीपिका" में "त्रिकसार" का उल्लेख है तथा परात्रिंशिका में "त्रिक-तंत्र-सार" का एवम् "शिव सूत्र-विमर्शनी" में 'त्रिक-हृदय' का उल्लेख है।[64]

त्रिक-दर्शनान्तर्गत प्रत्यभिज्ञाशास्त्र की अद्वैत निष्ठा की शून्याद्वैत, केवलाद्वैत, शब्दाद्वैत आदि विभिन्न अद्वैतों से एक प्रमुख विभिन्नता यह है कि वह शिवशक्ति-समायोग के माध्यम से अद्वैत या अभेद को ढूंढ लेता है, जो नितान्त औचित्यपूर्ण भी है। इन शैवों का कहना है कि – "वह परमशिव समस्त शुद्ध एवम् अशुद्ध मार्गों से परे चैतन्यघन एवम् आनन्दघन है।[65] किन्तु अपनी ही चितशक्ति के नाना स्तरों के भेद से विश्वरूप हो गया। सदा-शिव से क्षितिपर्यन्त सर्वत्र शक्तिविशेष के भिन्न प्रकार का रूप धारण करते रहने से शिव अभिन्न होते हुऐ भी अपनी नाना जीव-शक्तियों में स्फुरित होने लगते हैं। "श्री त्रिशिरो भैरव" को उद्धृत करते हुए क्षेमराज कहते हैं कि जीव कहीं भी किसी भी दशा में अवस्थित हो वह शिव की ही एक शक्ति है। जब वही जीव-शक्ति अपने स्वरूप-बोध की ओर आरूढ़ होने लगती है तो ज्ञान के खुल जाने से वही शिवा बन जाती है।[66] अपने विस्तृत स्वरूप का अपने ही सामने फिर से खुल जाना यही प्रत्यभिज्ञा है। वस्तुतः परमशिव से अभिन्न उनकी चिति शक्ति ही अपने स्वातंत्र्य का सर्वत्र उपयोग करती हुई, बच्चों के "लुका-छिपी" के खेल के सदृश स्वयम् ही विस्मृति में एवम् प्रत्यभिज्ञान में क्रमशः बन्द होती और खुलती रहती है। तथा परमशिव की निस्संगता का उपयोग भी अपनी स्वेच्छा से अपनी विश्व-क्रीड़ा में करती रहती है। अधिष्ठान भूत परम शिव को भित्ति बनाकर उस पर अपनी स्वेच्छा के नानावर्णमय चित्र विश्वरूप में उरेह देंती है।[67]

उपरोक्त तथ्यों को ध्यान में रखते हुए हमें यह पता चलता है कि प्रत्यभिज्ञा में जीवन्मुक्ति की इस अद्वय-दशा को प्राप्त करने के लिये त्रिकदर्शन के साधन या उपाय-क्रम में जिस उपाय को धारण किया जाता है, वह "अनुपाय" है। जिसमें उपाय रहित सरल अवस्था या फिर जयरथ के अनुसार ईषदुपाय या अल्पोपाय अर्थ भी किया जाता है। क्योंकि परम ज्ञान की दशा में जब शिव की आनन्द, इच्छा ज्ञान, क्रिया-शक्तियों में से आनन्द के साथ शिवयोगी का तादात्म्य लाभ हो जाता है तो आनन्द की स्वतः-स्फूर्त दशा में उपाय या प्रयत्न का लेशमात्र भी रहना अनुचित ही लगता है। इसीलिए तंत्रालोक में किसी तंत्र के वचन को उद्धृत करते हुए अनुपाय को अनुत्तर एवम् उपाय-रहित प्रत्यभिज्ञा ही माना है।[68]

तंत्रालोक में आचार्य अभिनवगुप्त ने यद्यपि चार उपायों में अनुपाय, शांभवोपाय शाक्तोपाय एवम् आणवोपाय भेद किए हैं, तो भी अनुपाय और शाम्भवोपाय में से शांभव उपाय का ही चरम रूप अनुपाय प्रतीत होता है। क्योंकि शांभव उपाय भी साक्षात्कारिता मात्र प्रत्यभिज्ञा है।[69] इस शांभवोपाय में प्राप्त त्रिमुखी प्रत्यभिज्ञा का स्फुरण इस प्रकार हो उठता है – " मेरे से ही उदित हुआ है, मेरा ही यह प्रतिबिम्ब है, मुझसे यह अभिन्न है – यह त्रिधोपाय ही शांभव है।[70] संभव है कि शांभवोपाय की इस धारणा का मूल उपनिषद् का यह मंत्र रहा हो कि "यह आत्मा किसी मेधा, प्रवचन या प्रयत्न से उपलब्ध होने वाला तत्त्व नहीं है बल्कि यह तो उसी के द्वारा प्राप्य है जिसका यह स्वयं वरण कर लेता हैं।[71]

कुल सम्प्रदाय :-

कौलमत भी शैवमत की एक अति महत्वपूर्ण चिन्तनधारा है जिसने शिवशक्ति-समायोग की मौलिक व्याख्या प्रदान की है। "कुल" यदि शक्ति का नामान्तर है तो "कौल" उस शाश्वत उद्बुद्ध शक्ति को धारण करने वाले शिव का नाम है। कौलोपनिषद् के शान्तिपाठ पर भाष्य करते हुए भास्कर राय कहते हैं कि "कौलिक पर-शिव का ही नामान्तर है।[72] कौल शिव का वह स्वरूप बन जाता है जो षोडश चन्द्रकला के रूप में परा शक्ति को मस्तक पर धारण किए रहता है। अतः काश्मीर शैव-दर्शन के कुल संप्रदाय में शक्ति-जिज्ञासा अथवा धर्म-जिज्ञासा प्रबल हो उठती है। शक्तिमान् अथवा धर्मी जिज्ञास्य न होकर स्वाभाविक स्थिति मात्र रह जाते हैं। शिव जो धर्मी है वे स्वयं अपनी धर्मिता को जानने के लिए, शिवता देखने के लिए शक्तिरूप दर्पण में झांकते हैं। यह स्थिति कुछ कुछ आत्मा में आत्मा से आत्मा को देखने की लगती है।

कुल सम्प्रदाय के लिए "त्रिक" शब्द का प्रयोग भी इस दिशा में एक रोचक अध्ययन हो सकता है। अभिनव गुप्त ने तंत्रालोक में बहुत जगह कुल और त्रिक का सामञ्जस्य दिखाया है। वे कहते हैं कि कुल प्रक्रिया में परा, परापरा, अपरा इन तीन शक्तियों का प्राधान्य है।[73]

अतः परा-आदि तीन शक्तियों के नाम के कारण कुल मत को भी त्रिकशास्त्र कहा जा सकता है।[74] प्रत्याभिज्ञादर्शन से उनकी भिन्नता इन अर्थों में है कि पंचकंचुक में नियति और काल को पृथक नहीं माना गया है। अभिनव का कहना है कि य, र, ल, व आदि चार अन्तस्थ वर्णों में क्रमशः राग, विद्या, कला और माया का प्रादुर्भाव हुआ है।[75] अतः कौल-मत कला और नियति को पृथक से तत्त्वान्तर में मानने के पक्ष में नहीं है। एक अन्य अन्तर यह है कि कुल सम्प्रदाय शिवशक्ति और उनके समायोग का एक समूहात्मक त्रिक मानता है।[76] वहां उस त्रिक को केवल त्रिक न कहकर अनुत्तर त्रिक कहना अधिक ठीक समझता है। इस ऊर्ध्व त्रिक की प्रधानता के कारण शम्भुनाथ और उनकी दूती भगवती के मत में इसे अनुत्तर षडर्ध या त्रिक कहा जा सकता है।[77]

ऐसा प्रतीत होता है कि यदि महामहेश्वराचार्य अभिनवगुप्त के ग्रन्थों का कुलमत की दृष्टि से अध्ययन किया जाए तो यह स्पष्ट हो जाएगा कि मूलतः कुल दृष्टि एक सामूहिक संपूर्णता का दर्शन है, जिसमें दक्षिण और वाम का पूर्ण समन्वय प्राप्त होता है।[78] वह भौतिक में अभौतिकता को प्रतिबिम्बित होते हुए देखता है तो अतिभौतिकता में भौतिक जगत् के उपादानों का मूल देख लेता है। तत्त्वान्वेषण हो जाने के अनन्तर वह कौल और शिवयोगी में कोई अन्तर नहीं देखता। अतः संवित् की अद्वैतता के स्तर पर पहुंच कर कौल स्नान, व्रत, देहशुद्धि, धारणा, मंत्र-योजना, होम, जप एवं समाधि आदि से भी मुक्त होकर संविदद्वैत अथवा शक्तितत्त्व के साथ एकात्मभाव से जीता है। गुरु के उपदेश से संशय, विपर्यय आदि के नष्ट हो जाने पर अनुत्तर त्रिक की सम्पूर्ण प्रक्रिया कौलाचार्य के आगे स्फुट हो जाती है फिर वह भला लिंगपूजा आदि बाह्याचारों में जरा भी क्यों लिप्त हो।[79] उसकी अद्वैतानुभूति वेदान्ती की अद्वैतता से इन अर्थों में विलक्षण है कि वह प्रातिभासिक, व्यावहारिक एवम् पारमार्थिक सत्ताओं का विरोध खड़ा किए बगैर ही सत्ता की एक साथ तीन प्रकार से स्फुरत्ता देख लेता है। संवित् के साथ अभेदभावना कर लेने से जब कोई प्रतियोगी नहीं रहता तो शिवता का स्फुरण, जब उसी की अपनी इच्छा से प्रतियोगी-रूप में अपनी ही शक्ति का दर्पण की तरह व्यवहार होता है तो शाक्तता का स्फुरण तथा अनेकात्मभाव की दशा में भेद की अभिव्यक्ति होती है। तब नरात्मभाव या बहुजीवभाव का स्फुरण होने लगता है।[80] लेकिन परमसत्ता का स्फुरण शिव-शक्ति और नर की तीनों दशाओं में है।

वस्तुतः कौल मत भी त्रिक-दर्शन का ही प्रकारान्तर है, इस तथ्य को प्रतिपादित करते हुए ऊपर जो प्रमाण प्रस्तुत किए गए हैं उनके आलोक में निष्कर्ष रूप में दो बातों को ध्यान में रखा जाना चाहिए। एक तो यह कि परमशिव जो काश्मीर शैव-दर्शन में अकुल माने जाते हैं उन्हीं की कुल शक्ति भेद को ज़रा भी सहन न करने वाले अभेद भाव से उन्हीं

में स्थित है।[81] वह विमर्शरूपा है।[82] वह कौलिकी शक्ति ही शाक्तों की सृष्टिकारिणी पराप्रतिभा है जिसका परमशिव की आनन्दशक्ति परा-इच्छा के रूप में अनुत्तर, उन्मेष रूपा इच्छा-शक्ति के रूप में परापरा तथा ज्ञानशक्ति के रूप में अपरा आदि दशात्रिक का प्रस्फुरण होता है।[83] इसलिए कौलों के मत में भैरवशिव के परम ओजस् रूप अहं-परामर्श ही पर-शक्ति रूप है। उसी का अनुत्तर, इच्छा और उन्मेष के त्रिक-रूप में प्रसार है।[84] यह कुलत्रिक ही चिति के रूप में प्रत्यभिज्ञा का हृदय है और काश्मीर शैवदर्शन का प्राणभूत है। 36 तत्त्वों के समूह में इसी एकमात्र तत्त्व का विकास है। अतः कौल मत का मन्तव्य यही सिद्ध होता है कि चैतन्य मूलतः विश्वात्मक है अतः सामूहिक है। पृथ्वी आदि प्रत्येक तत्त्व में उसी चैतन्य का साक्षात्कार होता है। अतः यत्पिण्डे तत् ब्रह्माण्डे की स्थिति कौलदृष्टि से ही सम्भव हो पाती है। इसी से कौलों की यह प्रसिद्ध उक्ति है कि प्रत्येक अकेला तत्त्व भी सभी 36 तत्त्वों को अपने में सम्पुञ्जित किए रहता है।[85] अतः व्यष्टि या समष्टि के आनन्द में या मुक्ति में कोई भेद नहीं रहता। अतः आनन्द भी कुलरूप या समूह का सुख है। अतः आज के सन्दर्भ में कुल-दृष्टि के अध्यात्म का प्रसार सामूहिक भावना या सर्वभावना में पूर्णरूप से हो सकता है। संभव है भारतीय दर्शनों में सर्वोदय की मूल प्रेरणा का स्रोत कुल दर्शन ही रहा हो। सबकी रक्षा का दायित्व वहन करने वाला ही इस दृष्टि से समाज-चेतना के स्तर पर कौल कहला सकता है। लेकिन कौलदृष्टि की सर्वात्मता का वैशिष्ट्य यह है कि उसमें सर्वता के अन्दर केवल प्रकाश या केवल ज्ञान ही नहीं है जैसा कि वेदान्त आदि अन्य प्रणालियों में है। यहां विद्या और अविद्या, प्रकाश और अन्धकार विरुद्ध होने पर भी अविरुद्ध भाव से रहते हैं। ज्ञान और अज्ञान दोनों ही सर्वात्मता में लीन होकर रहते हैं। इस दृष्टि से ईशोपनिषद् के मंत्र "विद्या च अविद्यां च यस्तद्वेदोभयं सह" तथा संभूति और असम्भूति एवम् मृत्यु और अमृत के युगपदभाव की ग्रन्थि को खोला जा सकता है।[86]

कुल पद के बारे में एक और व्याख्या दी जा सकती है कि कुल अनादि, अनन्त, अमेय, अकुल परमशिव की वह मर्यादा है जहां आकर वह परिपूर्णाहन्ता का लाभ करता है। "कु" का अर्थ है "पृथ्वी" और "ल" का अर्थ है "लीन होना" अर्थात् वह परम चैतन्य अन्तिम क्षितितत्त्व के विकास की परिपूर्णता के साथ ही आगे बढ़ना बन्द कर पूर्णता में स्थित हो जाता है। अतः पृथ्वी ही कुल है और ऊर्ध्व विकसित ब्रह्माण्ड की मूल योनि अथवा मूलाधार है। जीवन ऊर्ध्वगामिता भूयोनि में लिंग रूप में स्थित है। लेकिन यह कुल-पूजन या भूपूजन महाशाक्तों और महामाहेश्वरों की उच्च मर्यादा रही। आथर्वणों और आंगिरसों ने सम्भवतः अथर्ववेद के काल में इस परम्परा को आत्मसात् किया था। तभी श्री-सूक्त या पृथ्वीसूक्त की ऋषि-चेतना में भू-चेतना का अवतरण हुआ। किन्तु परवर्ती काल में बौद्ध, सिद्ध नाथ और योगियों ने मनुष्य-देह में मूलाधार एवम् योनिप्रदेश को ही सुख, आनन्द,

रति और सर्जन का क्षेत्र मानकर भूचेतना के साथ एकाकार कर दिया। फिर तो **यौन** सुख और कुल-दृष्टि एक दूसरे के पर्याय बनते चले गए। लेकिन सत्य यह है कि मात्र **यौनसुख** ही कुल दृष्टि का मूल मन्तव्य नहीं है। बहुत विद्वानों को यही प्रमाव रहा कि **कौलमत का** अर्थ योनिपूजा, सामूहिक रति, भैरवीचक्र और पंचमकार सेवन ही है जो **यथार्थ नहीं है।**

प्रत्यभिज्ञा दृष्टि से कुल-दृष्टि का अन्तर यह है कि प्रत्यभिज्ञा में व्यक्ति अपने चैतन्य स्वभाव को केवल एक ही परम बिन्दु में केन्द्रित कर उसे पहचानता है **और उसी** में स्थिर हो जाता है, जब कि कुलमत में नीचे से लेकर ऊपर तक के चेतना के सभी **आयामों** को उद्घाटित कर उनमें अभिव्यक्ति के आरोह अवरोह का भी पूर्ण अवलोकन **रहता है।** अतः उसमें कुछ भी उपेक्षित नहीं रह जाता। काश्मीर में इस कुल-दृष्टि के नए **विकास** का आरम्भ कुछ लोग ईसा की पांचवी शती में श्रीमच्छन्दनाथ के उदय के साथ **मानते हैं** बाद में सुमतिनाथ, उनके शिष्य सोमनाथ, उनके शिष्य शम्भूनाथ तथा उनके **शिष्य** अभिनवगुप्त कौलमत के मूर्धन्य आचार्य माने जाते हैं।

क्रम-मत :–

त्रिकदर्शन की एक तीसरी शाखा के रूप में क्रम-सम्प्रदाय हमारे सामने आता है। प्रत्यभिज्ञा और कुलक्रम से इसकी भिन्नता यह है कि यह उन दोनों दृष्टियों के सामने सीधे पर-अनुभूति की ही बात न करके क्रमशः वस्तुसत्ता के बाह्यरचना-क्रम और भीतरी ढांचे को यथोचित महत्व देता है। महार्थमंजरी में 'श्री क्रमसूत्रों' की चर्चा करते हुए कहा गया है कि बाहर से भीतर की तरफ तथा भीतर से बाहर की तरफ जो प्रवेशानुप्रवेश है वही क्रम है।[87] यह क्रम देश और काल के अन्दर पर-अपर भाव, पूर्वापरभाव, अनन्त उत्तरोत्तरता के रूप में उदय होता है। उसी का अवलोकन करते हुए साधक अक्रम से स्पर्श बना लेता है। यह क्रम सामान्यतः कालक्रम और दिक्-क्रम के हिसाब से होता है। कालक्रम को हम **सृष्टिक्रम** और संहारक्रम में विभक्त कर सकते हैं। दिक् क्रम को हम स्थिति-क्रम एवम् अधः-**ऊर्ध्वक्रम** में रख सकते हैं।

यह निश्चित है कि क्रम-विज्ञान का पता पूर्वकाल के योगियों परिणामवादियों और कर्मवादियों को भी ज्ञात था। यही कारण है कि पातंजल योग में योग की अन्य साधना पद्धितयां के निर्देशन में क्रम-साधना का विशिष्ट विवेचन मिलता है। एक सूत्र कहता है कि विश्व में क्रम के पलट जाने से भिन्न-भिन्न परिणामों की सृष्टि हो सकती है।[88] दूसरे में **बताया** गया है कि ध्यान-धारणा और समाधि के संगठित रूप से पैदा हुई संयम-शक्ति को यदि योगी कालधारा की कड़ी, जो क्षण है, उसमें लगा दे तो पदार्थों को विविक्त करके एक एक दिखाने वाले विवेक ज्ञान का उदय हो सकता है।[89]

शैवों और शाक्तों ने इस क्रम-दर्शन को एक नया सन्दर्भ देकर इसे पूर्णशिवता तक ले जाने वाले उपाय-चतुष्टय में से शाम्भवोपाय से नीचे शाक्तोपाय में उपस्थित किया है। इसी कारण षट्चक्रभेदन या नवचक्रवेध अथवा भगवती के नौ आवरणों का क्रमशः पूजन तथा परा, पश्यन्ती, मध्यमा, वैखरी के वाक्चतुष्टय का क्रमपूर्वक अवलोकन - ये सब शैव एवम् शाक्त दृष्टि का अभिन्न अंग बन गए। शाक्तों का शुक्ल पक्ष एवम् कृष्ण पक्ष में बदलती हुई तिथियों के रूप में काल के परिणाम का अवलोकन करना श्री चक्र साधना का महत्वपूर्ण अंग है।[90] काश्मीर शैव मत में यह काल ही शाक्तोपाय में कालीक्रम बन गया। बारह कालियों का क्रमशः स्वरूप-निरूपण अभिनव गुप्त ने कई जगह किया है।[91] इस क्रम उपासना के सन्दर्भ में अभिनव यह कहना नहीं भूलते कि परा संवित् ही अपने स्वातंत्र्य के बल से द्वादश के क्रम में उदित होती है।[92] इस संवित् के स्फुरण होने के क्रम को महार्थमंजरी-कार ने बहुत ही सुन्दर ढंग से प्रस्तुत किया है –

"तेन स्थितेर्मूलकन्दः सृष्टिः सृष्टेः पल्लवः स्थितिरित्यादि क्रमोऽपि स्वयमूहनीयः। सृष्ट्यादि चतुर्थकृत्येषु सृष्टि सृष्टिः सृष्टिस्थितिरित्याद्धि क्रमेण प्रत्येकं चातुर्विध्यम्, पर्यन्ततोभासा पर्यवसायित्वम्।"[93]

वस्तुतः ध्यान से देखा जाए तो शैवों और शाक्तों का प्रतिभा-तत्त्व इस क्रम शास्त्र में पूर्णतः व्याख्यात होता है। अतः त्रिकशासन में प्रतिभा के अध्ययन के लिए क्रम-सम्प्रदाय का विस्तार पूर्वक अवलोकन करना पड़ेगा कि परा संवित् निरंकुश होते हुए भी लोकोत्तर काव्यादि के रचनाक्रम में कैसे प्रवृत्त हो जाती है तथा प्राण-कुण्डलिनी के रूप में योगियों के चक्रों का क्रमशः वेध करती हुई अथवा संहार करती हुई सहस्रार के एकान्त में परमशिव के साथ विहरण करती हुई कैसे परमानन्दता का अनुभव करती है।[94] वही परा-प्रतिभा है।

शैवों के सम्प्रदाय में प्रचलित है कि कलियुग के आरम्भ में ही क्रम-मत का परिवर्तन श्री दुर्वासा के द्वारा हुआ। लेकिन इसी का पुनरावर्तन 7वीं शताब्दी में काश्मीर में शिवानन्द नाथ नाम से विख्यात एकनाथ शैव द्वारा हुआ। उन्हीं के द्वारा दीक्षित उनकी तीन शिष्याओं केयूरवती, मदनिका एवम् कल्याणिका ने क्रम-सम्प्रदाय की शक्ति-साधना को अग्रसर किया।[95] लेकिन मेरे विचार में वैदिक ऋषियों का संवत्सर पुरुष या प्रजापति जो छः ऋतुओं, बारह मासों और अहोरात्र में विभक्त होकर विश्व की सम्पूर्ण उत्पति स्थिति और लय का आधार बनता है[96] वही गीता में काल[97] और शैव शाक्त-क्रम में महाकाल या महाकाली के रूप में अत्याधिक व्यवस्थित होकर उभरा है। अतः क्रम-सम्प्रदाय को भी यदि वैदिक-चेतना का प्रतिफल मान लिया जाए तो उसका इतिहास और भी प्राचीन सिद्ध हो सकेगा।

स्पन्द-मत :-

त्रिक-दर्शन में कुछ आचार्यों ने स्पन्दशक्ति को ही सारे क्रम और अक्रम बोध का मूलसार माना है। उनका कहना है कि स्पन्द एक ऐसी धड़कन है जिसका अनुभव हम अपने जीवन की जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति एवम् तुर्या आदि सभी दशाओं में कर सकते हैं। सुषुप्ति या निश्चेष्टता की परम स्थिति में प्राण के स्पन्द का संचार कहीं लुप्त या सुप्त नहीं होता। अतः स्पन्द केवल गति के मूल में ही नहीं अपितु स्थिति के मूल में भी है।

अतः अनुत्तर - मूर्ति परमशिव भी जब अपनी स्वतंत्र इच्छा से अखिल जगत् की सृष्टि करने के लिए उद्यत होते हैं तो आद्यस्पन्द का उदय होता है और वह आद्यस्पन्द ही शैवों का आदित या शिवतत्त्व बन जाता है।[98] उसी से आगे विकासक्रम चलता है। अतः सिद्ध यह होता है कि इच्छा का उदय ही स्पन्द है जिसका मूल आनन्द और चैतन्य है। इस इच्छा रूप स्पन्द की बाह्य और आभ्यन्तर अनुभूति का ही उल्लेख सम्भवतः भर्तृहरिं ने किया है।[99] जिन शैवों ने इस सतत-प्रवाहिनी गतिशक्ति को विश्व का सार मानने पर बल दिया है, उनमें "विज्ञान भैरव तंत्र", "स्वच्छन्द तंत्र" तथा "तंत्रालोक-षष्ठ-अध्याय" का योगदान महत्वपूर्ण है।

काश्मीर में इस स्पन्द मत का प्रवर्तन सातवीं आठवीं शताब्दी के बीच वसुगुप्त द्वारा ही रचित हुई या उन्हीं के शिष्य भट्टकल्लट के द्वारा हुआ किन्तु इस विषय में मतभेद अभी बना हुआ है।

निष्कर्ष :-

काश्मीरी त्रिकदर्शन के अंग-उपांगभूत इन चारों मतों का अवलोकन करने से ऐसा प्रतीत होता है कि एक ही परमशिव जो अनुत्तर एवम् अद्वितीय है, उन्हीं की विभूति या ऐश्वर्य का त्रिधा विकास ही कुलमत, क्रममत एवम स्पन्द-दृष्टि के रूप में हुआ है। प्रत्यभिज्ञा दृष्टि अत्यन्त निगूढ़ होने के कारण इस त्रिशूल का मूलभूत है। इस प्रत्यभिज्ञा के मूर्धा से ही शैवों की भक्ति, ज्ञान और कर्म की त्रिपथगा का अवतरण होता है जो बाहर से भिन्न दिखते हुए होने पर भी भीतर के अद्वय में एकत्र और समन्वित है। अतः त्रिकदर्शन का अध्ययन सभी दृष्टियों का समरसता-पूर्ण परस्पर संनिवेश है।

– सन्दर्भ –

1. ललितासहस्रनाम, श्लोक- 215
2. संस्कृत - हिन्दी कोश
3. अष्टाध्यायी 2-4-1
4. ललिताम्बात्रिशतीस्तव, 11

5. निरुक्त, 1-4-13
6. वही, 3-2-10
7. वही, 3-2-10 पर रामप्रपन्नकृत टीका
8. त्रितस्तीर्णतमो मेध्यो बभूब। निरुक्त 4-1-7
9. ऋग्वेद, 1-154-2
10. संस्कृत हिन्दीकोश
11. वही
12. कन् दीप्तावित्यस्माद्धातोः अथवा कनतेः (क्विप्) "उणादयो बहुलम्" इति बहुलग्रहणात् डः। स्वरादित्वादव्ययत्वं न लोपः। आर्षत्वात् प्रगृह्यत्वेन प्रकृतिभावः। महात्रिपुरसुन्दरी-पूजाकल्प, पृ०-115
13. त्राणम् - अनिष्टनिवृत्त्युनुकूलोव्यापारः। सर्व-तन्त्र-सिद्धान्त-पदार्थलक्षण- संग्रह, पृ० 121
14. त्रपा - परज्ञानभयम्। वही०
15. त्रसरः - तन्तुवायकृतसूत्रवेष्टनम्। वही०
16. इक्स्मरणे इत्यस्मात्, इङ् अध्ययने इत्यस्माद्वा औणादिको विच् प्रत्ययः। महात्रिपुरसुन्दरी-पूजाकल्प, पृ० 115
17. असि यमो अस्यादित्यो अर्वन्नसि त्रितो गुहयेन व्रतेन। असि सोमेन समया विपृक्त आहुस्ते त्रीणि दिवि बन्धनानि। त्रीणि त आहुर्दिवी बन्धनानि त्रीण्यप्सु त्रीण्यन्तः समुद्रे।। ऋग्वेद 1-163-3,4
18. वही०, 2-15-1, 8-13-18
19. तिस्रो भूमीर्धारयन् त्रींरुतद्यून् त्रीणिव्रता विदथे अन्तरेषाम्...........त्री रोचना दिव्या धारयन्तः।। वही०, 2-27-8
20. सरस्वती साधयन्ती धियं न इला देवी भारती विश्वमूर्तिः।
तिस्रोदेवीः स्वधयाबर्हिषेदमच्छिद्रं पान्तु शरणं निषद्य।।" वही, 2-3-8
21. अव द्विके अव त्रिका दिवश्चरन्ति भेषजा।
क्षमाचरिष्णवेककं भरतामप यद्रपो -----।। वही० 10-59-9
22. षष्ठंसप्तममथ वह्निसारथिमस्यामूलत्रिकमादेशयन्तः।" त्रिपुरोपनिषद्, मंत्र - 9
23. सौन्दर्य लहरी, श्लोक 11
24. वही, श्लोक 11
25. वही, श्लोक 11
26. परा त्रिंशिकाविवरण (पाद-टिप्पणी) 26 का सारांश
27. तदेतत् त्रयंसदेकमयमात्ममात्मो एकः सन्नेतहायं तदेतदमृतं।
बृहदारण्यकोपनिषद्, 1-6-3
28. योऽयं विष्णुः स वा एकस्त्रिधाभूतः। मैत्रायण्युपनिषद्, 5-2
29. कुमारसम्भवम्, 7-44
30. नमो विश्वसृजे पूर्वं विश्वं तदनु बिभ्रते।
अथ विश्वस्य संहर्त्रे तुभ्यं त्रेधा स्थितात्मने।। वही, 10-16
31. "तस्मै तृणं निदध्णवेतद्दहेति। तदुपप्रेयाय सर्वजवेन तन्नशशाक दग्धुम्।"

केनोपनिषद्, 3-6

32. वही, 4-1

33. प्र ते ब्रवीमि तदु मे निबोध, स्वर्ग्यमग्निं नचिकेतः प्रजानन्।
अनन्तलोकाप्तिमथो प्रतिष्ठां विद्धि त्वमेतं निहितं गुहायाम।। कठोपनिषत्, 1-1-14

34. अकारो वै सर्वा वाक् सैषा स्पर्शान्तस्थोष्मभिर्व्यज्यमाना वह्वी नानारूपा भवति।" ऐतरेय आरण्यक, 2-3-7-13

35. तस्माद् विद्यया तपसा चिन्तया चोपलभ्यते ब्रह्म। स ब्रह्मणः परे ----- अनामयं सुखमश्नुते य एवम् विद्वाननेन त्रिकेण ब्रह्मोपास्ते।" मैत्रायणी उपनिषद्, 4-4

36. अन्नमशितं त्रेधा विधीयते। छान्दोग्य उपनिषद् 6-5-1, 2, 3

37. मैत्रायणी उपनिषद्, 6-4

38. "त्रयोलोकास्त्रयोवेदास्तिस्रः संध्यास्त्रयः स्वराः।
त्रयोऽग्नयश्च त्रिगुणाः स्थिताः सर्वे त्रयाक्षरे।
त्रयाणामक्षराणां च योऽधीतेऽप्यर्धमक्षरम्।
तेनसर्वमिदं प्रोतं तत्सत्यं तत्परं पदम्।
पुष्पमध्ये यथागन्धः,पयोमध्ये यथा घृतम्। योगतत्त्वोपनिषद्, 134-136

39. भारतीय प्रतीक विद्या, पृ० 248

40. जैन आइकोनोग्रॉफि, पृ० 97

41. भारतीय प्रतीकविद्या, पृ० 260

42. अस्मिंश्चतुर्दशे धाम्नि स्फुटीभूत त्रिशक्तिके 'त्रिशूलत्वमतः प्राह शास्त्र श्री पूर्वशासने।
लोलीभूतमतः शक्तित्रितयं तत्त्रिशूलकम्। यस्मिन्नाशु समावेशाद्भवेद् योगी निरंजनः।।
वही, पृ० 260

43. वही, पृ० 161 पर उद्धृत

44. वही, पृ० 268

45. प्रत्यभिज्ञा हृदयम्, सूत्र 8 पर विवृति

46. वही, पृ० 23

47. ऋग्वेद 10-90-3

48. वही, 6-47-18

49. "चितिशक्तिरपरिणामिनी" (योगदर्शन) तथा "अमला चितिशक्ति" (संक्षेपशारीरक) की तुलना कीजिए।

50. सृष्टि स्थितिसंहारमेलनरूपेयं तुरीया संविद्भट्टारिका तत्तत्सृष्ट्यादिभेदानुद्वमन्ती संहरन्ती च सदा-पूर्णा च कृशा चोभयरूपाचाक्रममेव स्फुरन्ती स्थिता।" प्रत्यभिज्ञाहृदयम्, सूत्र 8 पर विवृति

51. स्तवचिन्तामणि, 69

52. वस्तुतो हि त्रिधैवायं ज्ञानसत्ता विजृम्भते।
भेदेन भेदाभेदेन तथैवाभेदभागिना।। तंत्रालोक, 1-230 की टीका में उद्धृत
(मोती लाल बनारसी दास)

53. दशाष्टादशवस्वष्टभिन्नं यच्छासनं विभोः।

तत्सारं त्रिकशास्त्रं हि तत्सारं मालिनीमतम्।। वही, 1-18 (मोतीलाल बनारसी दास)
54. वही, 1-49 (काश्मीर सीरीज)
55. कुलप्रक्रियायां तिस्रः शक्तयः पराद्याः। वही 1-153 (काश्मीर सीरीज)
56. संख्यायाः संज्ञां संघसूत्राध्ययनेषु। अष्टाध्यायी, 5-1-57
57. 'त्रिकम् परादिशक्तित्रयाभिधायकं शास्त्रम् । तंत्रालोक, 1-150 (काश्मीर सीरीज)
58. "पार्श्वेनान्विच्छति 'पार्श्व' प्रतिपादिक से (अन्विच्छति) चाहता है इस अर्थ में कन् प्रत्यय होता है।" अष्टाध्यायी, 5-2-75
59. तावतीत्थं गृह्वामीति लुग्वा। वही, 5-2-77
60. यथालोकेन दीपस्य किरणैर्भास्करस्य वा।
ज्ञायते दिग्विभागादि तद्वच्छक्त्या शिवः प्रिये।। परात्रिंशिका विवरण, 83
61. सोऽस्यांशवस्नभृतयः। अष्टाध्यायी, 5-1-55
62. दक्षिणादुत्तमं वामं वामात् सिद्धान्तमुत्तमम्।
सिद्धांतादुत्तमं कौलं कौलात्परतरं नहि। कुलार्णव तंत्र, 2-7, 8
63. सर्व-दर्शन-संग्रह, पृ० 350-351
64. तांत्रिक-साहित्य, पृ० 264
65. परमशिवः षडध्वातीतश्चिद्घनः। नेत्र-तंत्रम्, 16-58
66. जीवशक्तिः शिवस्यैव सर्वत्रावस्थितापि सा।
स्वरूप प्रत्ययारूढ़ा ज्ञानस्योन्मीलनाच्छिवा।। वही, 16-58
67. स्वेच्छयास्वभित्तौ विश्वमुन्मीलयति। प्रत्यभिज्ञाहृदयम्, सूत्र-2
68. ततोऽपि परमं ज्ञानमुपायादि विवर्जितम्।
आनन्दशक्ति विश्रान्तमुनत्तरमिहोच्यते। तंत्रालोक, 1-242 (काश्मीर सीरीज)
69. साक्षादुपायेन इति शाम्भवेन। तदेव हि अव्यवहितं पर - ज्ञानावाप्तौ निमित्तं, स एव परां काष्ठां प्राप्तश्चानुपाय इत्युच्यते।" वही, 1-142 पर टीका (मोती लाल बनारसी दास)
70. मत्त एवोदितमिदं मय्येव प्रतिबिंबितम्।
मदभिन्नमिदं चेति त्रिधोपायः स शांभवः। वही, 3-280 (बनारसी दास)
71. नायमात्मा प्रवचनेन ----- विवृणुते तनुं स्वाम्। मुण्डकोपनिषद्, 3-1-3
72. कुल मार्ग प्रवर्तकः कौलिकः परशिव इति। कौलोपनिषद्, भूमिका
73. कुल प्रक्रियायां तिस्रः शक्तयः पराद्याः। तंत्रालोक, 1-153 (काश्मीर सीरीज)
74. त्रिकं परादिशक्तित्रयामिधायकं शास्त्रम्। वही, 1-150 (काश्मीर सीरीज)
75. अभिनव गुप्त - पृ० 602
76. कुलं स्थूलसूक्ष्मपरप्राणेन्द्रियभूतादि समूहात्मतया कार्यकारणभावत् च। यथोक्तम् - संहत्यकारित्वात् उक्तं ही कुल संस्त्याने बन्धुषु च। परात्रिंशिका विववरण, 32-3
77. अभिवगुप्त, पृ० 603
78. अशेषतंत्रसारं तु वामदक्षिणमाश्रितम् ।
एकत्र मिलितं कौलं श्री-षडर्धकशासने।। तंत्रालोक, 12-40 (काश्मीर सीरीज)
79. (क) स्नानं व्रतं देहशुद्धिर्धारणा मंत्रयोजना।

इत्यादि कल्पना कापि नात्र भेदेन युज्यते।। वही, 289, 290 (मोती लाल बनारसी दास)

(ख) कुलादौ अद्वयदर्शने पुनरसौ लिंगपूजा निषिद्धा यतो देहः सर्वाध्वमयः, इति तत्रैव तत्साक्षात्कारः सुलभः इति किमनुपपतिना बाह्येन लिंगादिना फलम्। ---- इह पुनः परमाद्वयरूपे त्रिकदर्शने तद्विधिनां तन्निषेधेन वा न किञ्चित्प्रयोजनम्। वही, 256, टीका (मोती लाल बनारसी दास)

80. एकात्मने हि अप्रतियोगित्वात् शिवता, प्रतियोगिसंभवे शाक्तत्त्वम् अनेकताया भेद एव नरात्मभावः। परात्रिंशिका विवरण, 79

81. अकुलस्यास्य देवस्य कुलप्रथनशालिनी।
कौलिकी सा परा शक्तिरवियुक्तो ययाप्रभुः।। तंत्रालोक, I-67 (मोती लाल बनारसी दास)

82. कौलिकीति परेति चोक्ता अन्तःप्रमात्रैकात्म्येन वर्तमाना विमर्शात्मा याऽसौ विसिसृक्षा।'' वही, 39 (भाष्य) (काश्मीर सीरीज)

83. अनुत्तरा परेच्छा च परापरतयास्थिता। उन्मेषशक्तिज्ञानाख्यावपरेति निगद्यते। वही, 233 (काश्मीर सीरीज)

84. अहं परामर्श -------- त्रिकमेव वस्तुतोऽस्ति।'' वही

85. एकैकेऽपि तत्त्वेऽपि षटत्रिंशतत्त्वरूपता''। षट्त्रिंशतत्त्वसन्दोह

86. ईशोपनिषद् 11, 14

87. परमेश्वरस्य अविकल्प्यभूम्यनुप्रविष्टा चिच्छक्तिश्च बोधरूपे प्रमातरि स्फुरन्ती, तदनु तदन्तःकरणानुप्रविष्टा।। महार्थमञ्जरी, पृ० 93

88. क्रमान्यत्वं परिणामान्यत्वे हेतुः। योगसूत्र, 3-15

89. क्षण तत्क्रमयोः संयमाद्विवेकजं ज्ञानम्। वही०, 3-52

90. पंचदशतिथिरूपेण कालस्य परिणामावलोकनम्'' भावनोपनिषद् -- 33

91. (क) ननु क्रमदर्शने सर्वत्रैव श्रीसृष्टयादि देवीनां मध्ये श्री सुकाल्या भगवत्या अभिधानम्। येनानाख्याचक्रे त्रयोदश देव्यः। अतएव श्री महाभैरवचण्डोग्रघोर काली भट्टारिकायाश्च त्रयोदशत्वम्। X X XXX तदत्र क्रमनयसमान-कक्ष्यत्वविवक्षायामपि कथमेतद्विरुद्धमभिहितं द्वादशैव देव्यः। तंत्रालोक 11--189, 190 (काश्मीर सीरिज)

(ख) ''प्रक्रियान्तरेण अस्य द्वादशधोदय उक्तः इति सर्वम् निरवद्यम्''। वही० (भाष्य) 11-134

92. महार्थमंजरी, 109

93. वही०

94. सहस्रारे पदमे सह रहसि पत्या विहरसे। सौन्दर्य लहरी,श्लोक-9

95. काश्मीर शैविज़्म - पृ० 138

96. ''समुद्रादर्णवादधिसंवत्सरोऽजायत। अहोरात्राणि विदधद्विश्वस्यमिषतोवशी।'' -- ऋग्वेद, 10-191-2

97. अहमेवाक्षयः कालो धाताहं विश्वतोमुखः। गीता 10-33

98. यदयमनुत्तरमूर्तिनिजेच्छयाखिलमिदं जगत्स्रष्टुम्।
पस्पन्दे स स्पन्दः प्रथमः शिवतत्त्वमुच्यते तज्ज्ञैः।। षट्त्रिशतत्त्वसंदोह, 1

99. ''मनो मन्दस्पन्दं बहिरपि चिरस्यापि विमृशन्।'' वैराग्य शतक, 51

द्वितीय उन्मेष

प्रत्यभिज्ञा दर्शन : स्वलक्षण परामर्श एवम् तत्त्व-विचार

भारतीय विचारधारा, भारत की विशिष्ट और सामान्य विभिन्नताओं, चाहें वे देशगत हों, कालगत हों, संस्कृति के कारण हों अथवा किसी अन्य कारण से हों, आदिम युग से सामञ्जस्य के सूत्र को लेकर चल रही है। उसी सामञ्जस्य की दृष्टि के कारण यहां नाना प्रकार के ज्ञान फलीभूत हुए हैं और उस ज्ञान को चाहे वह भौतिक रहा हो, आधिदैविक, आध्यात्मिक रहा हो, यहां के जन-जीवन ने उसे जीवन-प्रक्रियाओं में आत्मसात् कर उसे जीवन्त रूप दिया। ज्ञान और क्रिया का अद्‌भुत समन्वय भारत के जनमानस का अपना वैशिष्ट्य है।

शैव-दर्शन इसी पृष्ठभूमि से उभर कर यहां के मानस को पूर्व-वैदिक युग से आधुनिक काल तक आलोकित कर रहा है। विद्वानों ने अपने-अपने आनुमानिक प्रमाणों से यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि शैव-सम्प्रदाय एक अनार्य सम्प्रदाय था। लेकिन मूल बात यह है कि दार्शनिक दृष्टि काल या स्थान से बंधी नहीं होती। वह तो सर्वत्र विद्यमान है, विशाल जनमानस उसका आधार तैयार करता है और वह विशिष्ट काल, देश, व्यक्ति के माध्यन से स्थूल रूप में प्रकट होती है। वह विशाल जनमानस और कुछ नहीं, शैवों में शिव, वेदन्तियों में ब्रह्म, सांख्यों में प्रकृति, बौद्धों में शून्य है।

भारत में मुख्य रूप से तीन धार्मिक दर्शनों का विकास हुआ है :-

1. शैव
2. शाक्त
3. वैष्णव

शैव-दर्शन सम्प्रदाय के स्वरूप की उपलब्धि तो यजुर्वेद के शतरुद्रिय अध्याय से होती है। तैत्तिरीय आरण्यक में समस्त जगत् को रूद्र रूप बतलाया गया है।[1] श्वेताश्वतर उपनिषद् में शिव का वर्णन उपलब्ध है।[2] अथर्वशिरस् उपनिषद् में पाशुपतव्रत, पशु, पाश आदि पारिभाषिक शब्दों की प्रथम उपलब्धि होती है।[3] महाभारत और रामायण में शिव और शैवमतों का वर्णन है। वामन पुराण में शैव सम्प्रदायों का उल्लेख प्राप्त होता है।[4] वर्तमान समय में शैव-दर्शन के छः सम्प्रदायों के नाम उपलब्ध हैं।

1. शैव-सिद्धान्त
2. पाशुपत
3. कालामुख
4. कापालिक

5. काश्मीर शैवमत

6. वीरशैवमत

इनमें से काश्मीर शैवमत के दो प्रभेद हैं :-

1. प्रत्यभिज्ञा

2. स्पन्द-शास्त्र

अद्वैतवादी त्रिकदर्शन अर्थात् प्रत्यभिज्ञा - दर्शन का साहित्य अत्यन्त विशाल है। इसके मूल प्रवर्तक आचार्य वसुगुप्त (800 ई०) है। "शिवसूत्रविमर्शिनी" के आरम्भ में क्षेमराज का कथन है कि भगवान् श्रीकण्ठ ने स्वयं वसुगुप्त को स्वप्न में आदेश दिया कि महादेव गिरि के एक विशाल शिलाखण्ड पर लिखे गए "शिवसूत्रों" का उद्धार करें। जिस चट्टान पर ये सूत्र उट्टंकित मिले थे उसे आज भी "शिवोपल" के नाम से पुकारते हैं। ये ही 77 सूत्र इस दर्शन के मूल आधार हैं। स्पंदकारिका (52 कारिका) में शिवसूत्रों के सिद्धांतों का ही विशदीकरण किया है।[5]

वसुगुप्त के दो शिष्यों ने दो दार्शनिक चिन्तन-धाराएं चलाईं। कल्लट (नवशतक उत्तरार्द्ध) ने स्पंद-सिद्धांत को अग्रसर किया तथा सोमानन्द ने प्रत्यभिज्ञा मत को एक दर्शन का रूप दिया। दोनों मतों की दार्शनिक दृष्टि एक ही है यद्यपि छोटे-मोटे सिद्धांतों में पार्थक्य हैं। कल्लट की स्पन्दकारिका की वृत्ति "स्पन्दसर्वस्व" है। सोमानन्द के ग्रन्थ "शिवदृष्टि" और "परात्रिंशिकावृत्ति" है। उत्पलाचार्य (900 ई०) का "ईश्वरप्रत्यभिज्ञा-कारिका" त्रिक-सम्प्रदाय का मनन शास्त्र है।

अभिनव गुप्त रचित ग्रन्थ "अभिनव-भारती", "लोचन", ईश्वर प्रत्यभिज्ञा - विमर्शिनी", "तंत्रालोक", तंत्रासार", "मालिनि-विजय वार्तिक", परमार्थसार", परात्रिंशिकावृत्ति" हैं। क्षेमराज के प्रसिद्ध ग्रन्थों में "शिवसूत्र विमर्शिनी, स्वच्छन्द-तंत्र", "विज्ञान-भैरव", नेत्र-तंत्र', पर टीका, "प्रत्यभिज्ञा-हृदय" स्पन्द प्रदीपिका", भास्कर तथा वरदराज का "शिव-सूत्र-वार्तिक", रामकण्ठ की "स्पन्दकारिकावृत्ति", योगराज की "परमार्थ सारवृत्ति" तथा जयरथ की विपुलकाय "तंत्रालोक की टीका", और गौरक्ष की "परिमलसंहिता महार्थमंजरी" विख्यात ग्रन्थ हैं। सर्वदर्शन संग्रह में इसके साहित्य का विवरण निम्न प्रकार से दिया है - "सूत्र वृत्ति, विवृत्ति, लघु और बृहत दो प्रकार की विमर्शिनी ये पांच प्रकार के प्रकरण और विवरण ग्रन्थ प्रत्यभिज्ञा के शास्त्र हैं।[6]

प्रत्यभिज्ञा का व्युत्पत्ति लक्षण–

प्रत्यभिज्ञा का शाब्दिक एवम् व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है – "प्रति + अभि + ज्ञा +

अङ् + टाप् अर्थात् जानना, पहचानना।[7] इसी अर्थ में यह शब्द मातंग लीला में प्रयुक्त हुआ है।[8] इससे मिलते जुलते अर्थ में ही प्रत्यभिज्ञानम् शब्द आया है। जिसकी व्युत्पत्ति "प्रति + अभि + ज्ञा + ल्युट्" से होती है।[9] इस शब्द का प्रयोग कालिदास ने अपने रघुवंश में भी किया है।[10] दर्शन के रूप में इसका विशिष्ट अर्थ में प्रयोग हुआ है। प्रत्येक जाने हुए विषय की पहचान या ज्ञान ही प्रत्यभिज्ञान है। इन्द्रियों के साथ संस्कार ही से उत्पन्न ज्ञान भी प्रत्यभिज्ञा है।[11] पूर्वकाल के विषय- ज्ञान और वर्तमान काल में उपस्थित विषय-ज्ञान के भेद को दूर कर जो ज्ञान उत्पन्न होता है वह प्रत्यभिज्ञा है।[12] मानमेयरहस्य में लिखा है कि "यह वही है", यही ज्ञान प्रत्यभिज्ञा है अर्थात् भूतकाल में अनुभूत विषय की बुद्धि में स्मृति रहती है और उसी विषय का वर्तमान समय में जब इन्द्रियों द्वारा प्रत्यक्ष किया जाता है तो वर्तमान अनुभव भूतकाल के अनुभव अर्थात् स्मृति को जगाता है और ज्ञान होता है कि यह वही है।[13] "प्रत्यभिज्ञा - परिशोध" में प्रत्यभिज्ञा- प्रमाण के विश्लेषण में कहा गया है कि प्रत्यभिज्ञा प्रमाण से वस्तुओं का स्थिर बोध होता है।[14] लेकिन वहीं एक प्रश्न उठा कर यह समाधान भी किया गया है कि स्मृति और मति का एक मौलिक अन्तर है। प्रश्न यह है कि "स एवायं घटः" अर्थात् यह वही घट है" ऐसा जो ज्ञान है वह स्मृति-ज्ञान तो अतीत संस्कारजन्य ज्ञान है। अनुभवज्ञान वर्तमानकालिक इन्द्रियादि प्रमाण से जन्य ज्ञान है। परन्तु प्रत्यभिज्ञा द्वित्वसिद्धान्त की एकत्व में परिणति है अर्थात् एक में दो की स्थिति है।[15]

लेकिन इस विषय में विभिन्न विकल्प प्रस्तुत करते हुए कहा गया है कि तत्त्वाविशिष्ट भूतकालिक और इदंताविशिष्ट वर्तमानकालिक विरोधी धर्मो का परिहार करके एक नूतनता-विशिष्ट ज्ञान का उदय ही प्रत्यभिज्ञा का क्षेत्र है। अतः विरुद्ध ज्ञानों का समन्वय करके प्रत्यभिज्ञा नवनवोन्मेषशालिनी हो जाती है।[16] ईश्वर प्रत्यभिज्ञा में प्रत्यभिज्ञा के विशिष्ट स्वरूप को दर्शाते हुए समझाया गया है कि प्रत्यभिज्ञा की कल्पना में सौन्दर्य, रुचि या कान्ति का कैसे सम्मिश्रण हो जाता है। अभिज्ञा अथवा ज्ञान जब किसी कारणवश भी प्रतिभा सौन्दर्य से समन्वित हो जाता है तो उस ज्ञान में एक विलक्षण सी दमक आ जाती है। जैसे कि कोई लाख यत्न करके भी, किसी स्त्री के खोए हुए पति को, उस स्त्री के पास लाकर छोड़ जाए, किन्तु वह स्त्री जब तक उस पति को पहचान नहीं लेती तब तक रमण का आनन्द या सुख नहीं ले सकती, चाहे वह मुंह लपेट कर पास ही क्यों न पड़ा हो। इसी प्रकार अपनी ही आत्मा चाहे सदा हमारे अपने संग रहती है किन्तु अज्ञान के कारण उसे न पहचान पाने के कारण हम उसकी अनुभूति का आनन्द नहीं ले सकते। अतः ज्ञान और प्रत्यभिज्ञा में यही विशेष है कि ज्ञान सामान्य परिचय-मात्र है और प्रत्यभिज्ञा-ज्ञान में गहरी घनिष्ठता एवं अनौपचारिक सम्बन्धों की तीव्र उपलब्धि है। खोई हुई किसी अमूल्य निधि की पुनः प्राप्ति

का एक गहरा अहसास है जो जीवन में ऊपर से नीचे तक भीतर से बाहर तक पूर्ण समावेश पा लेता है। इसी का स्पष्टीकरण शैवों की भाषा में उपयुक्त ढंग से किया गया है।

सम्भवत: शंकर भी प्रत्यभिज्ञा के इस रूप को देखकर ही दक्षिणामूर्ति-स्तोत्र लिख बैठे और ब्रह्मसूत्र के भाष्य में "प्रत्यभिज्ञानस्य प्रमाणान्तरेण बाधानुपपत्तेः" तथा "व्यक्तिः प्रत्यभिज्ञानाद्" में प्रत्यभिज्ञाजन्य विशिष्ट बोध का बार-बार समर्थन करते हैं।[17]

उपर्युक्त कथन को स्पष्टता से समझने के लिए कुछ अन्य परिभाषाओं पर दृष्टि निक्षेप कर लेना भी आवश्यक है।[18] जैसे कि ब्रह्मसूत्र के अध्यासभाष्य पर लिखते हुए भामतीकार वाचस्पति मिश्र कहते हैं कि स्मृति का विषय सदैव स्मृति से दूर होता है किन्तु प्रत्यभिज्ञा का विषय सदैव उसके सामने होता है।[19] किन्तु शैवों ने दार्शनिक सूक्ष्मता में जो रुचि पैदा की उसमें विशेष यह है कि प्रत्यभिज्ञा एक प्रकार का अन्त:स्थित चेतना का उन्मीलन है।[20] वह जुड़ कर सप्राण हुआ ज्ञान है – "प्रतिसन्धितप्राणितमेव ज्ञानम् प्रत्यभिज्ञा।"

इन परिभाषाओं के अवलोकन से प्रत्यभिज्ञा के दो तथ्य सामने आते हैं –

1. भूतज्ञान अथवा स्मृति एवं संस्कारजन्य ज्ञान अथवा तत्तावगाही ज्ञान।
2. वर्तमान ज्ञान अथवा इदन्तावगाहि ज्ञान।

इन दोनों तथ्यों को लेकर प्रत्यभिज्ञा का दर्शनों में सामान्य अर्थ में प्रयोग हुआ है। परन्तु प्रस्तुत प्रसंग में "आत्मज्ञान" प्रत्यभिज्ञा का विशेष अर्थ है। प्रति-प्रतीप अर्थात् ज्ञात होने पर भी मोहवश विस्मृत तत्त्व का अभि-अभिमुख रूप से - स्फुटतया जो ज्ञा - ज्ञान अर्थात् प्रकाश है उसे प्रत्यभिज्ञा के नाम से कहा गया है।[21] सत्य तो यह है कि स्वात्मावभास पूर्व में कभी अनुभव ही न हुआ हो ऐसा नहीं है। क्योंकि वह अविच्छिन्न रूप से प्रकाशित होने वाला तत्त्व है। शास्त्र एवं साधना द्वारा वर्तमान में पूर्वानुभूत ईश्वरात्मक तत्त्व के अभिमुख होने पर प्रतिसन्धान के बल से "वही ईश्वर मैं हूं" – इस प्रकार का जो ज्ञान उत्पन्न होता है उसे प्रत्यभिज्ञा कहते हैं।[22] प्रत्यभिज्ञा ऐसा ज्ञान है जो एक साथ संस्कार और इन्द्रिय द्वारा उत्पन्न होता है। संस्कार द्वारा पूर्वदृष्ट व्यक्ति का स्मरण होता है और चक्षुरिन्द्रिय द्वारा उसी का साक्षात्कार होता है। इस प्रकार स्मृति और अनुभव पर आधारित एक व्यक्ति-विषयक बोध को प्रत्यभिज्ञा कहना संगत होगा।[23]

प्रत्यभिज्ञा-दर्शन का स्वलक्षण-परामर्श

यह ठीक है कि किसी भी विचारधारा या चिन्तन-प्रणाली को जब तक ठीक से लक्षित न कर लिया जाए तब तक उसके विशिष्ट स्वरूप को उभारने में ही शास्त्रकारों ने ग्रंथारम्भ में ही उस पदार्थ का निर्दुष्ट लक्षण कर आगे बढ़ने की परम्परा का सूत्रपात

किया। विचार्य विषय या चिन्तन का तुलनात्मक अध्ययन करते हुए उसको दूसरी विचार-दृष्टियों से पृथक् सिद्ध करते हुए उसके असाधारण धर्मों का उल्लेख करना ही लक्षण रचना का उद्देश्य होता है। उसी से शास्त्रारम्भ में ही शास्त्र के विषय, प्रयोजन, अधिकारी और सम्बन्ध आदि अनुबंध-चतुष्टय का स्वरूप उन्मिषित हो जाता है। अतः प्रत्यभिज्ञा-दर्शन का स्वलक्षण प्रतिष्ठित कर चलना ही समीचीन भी होगा और जो उसके वैशिष्टय का बोधक भी होगा। क्योंकि वस्तु या प्रतिपाद्य के बारे में सामान्य ज्ञान तरह-तरह की भ्रान्तियों को जन्म देता है और उसका स्वरूप-प्रत्यक्ष वैशिष्टय-मूलक होने से उन भ्रान्तियों का निराकरण करता है।

सामान्य-दृष्टि-अध्येताओं को प्रत्यभिज्ञा-दर्शन एक समन्वयात्मिका विचारपद्धति से अधिक कुछ विशेष प्रतीत नहीं होता। उसे यही लगता है कि अद्वैत-वेदान्त की अभेद-दृष्टि, सांख्य की भेद-दृष्टि, मीमांसा का क्रियावाद, योग की समाधि, कणाद की परमाणु-दृष्टि, नैयायिकों का अनुभवानुसारी युक्तिवाद, बौद्धों के स्वानुभूतिपरक आत्मानुसंधान की विभिन्न प्रणालियों के तकनीक एवम् प्रज्ञा पारमिताएं, जैनमत की मलों के अपसरण हो जाने से प्रस्फुटित हो उठने वाली त्रैकालिकी-दृष्टि, वैदिकों एवम् चार्वाकों का आनन्दवाद और शक्तिवाद-सिद्धांत का सम्पुटीकरण प्रत्यभिज्ञादर्शन को एक सम्पूर्ण दर्शन की अपेक्षा एक साधना-दृष्टि बनाने में ही सक्षम है। किन्तु प्रत्यभिज्ञा-सम्बन्धी विपुल-साहित्य, उसकी पृष्ठभूमि, उसका ईश्वरस्वातंत्र्य, चिति-स्वातंत्र्य, आभासवाद, आनन्दवाद, शिवशक्ति-सम्बन्धवाद, क्रिया-स्वातंत्र्य एवम् प्रत्यभिज्ञान की अनुसंधानात्मिका प्रक्रिया को देखते हुए उसे मूर्धन्य दर्शन की संज्ञा देनी ही पड़ती है। हमें मानना पड़ता है कि यह दर्शन अपनी परम्परा से सब कुछ लेकर भी उसे एक नई दृष्टि के साथ समंजस करके मौलिक दर्शन होने की सम्पूर्ण क्षमता रखता है। वह बेमेल विभिन्न दर्शनों का घालमेल नहीं अपितु एक ऐसी सम्यक् रूप से अन्वित दृष्टि है जो दूसरे दर्शनों के पारस्परिक वैषम्य का परिहार करके उन्हें समरस होकर खड़े होने में समर्थ बनाती है। इस दर्शन की वाक्-तत्त्व-सम्बन्धी एवम् रचनात्मक-प्रतिभा सम्बन्धी व्याख्याएं इसे एक ऐसा आयाम दे जाती है, जिससे यह अन्य सभी दर्शनों की तरह मात्र अतिभूतवाद (मैटाफिज़िक्स), ज्ञानमीमांसा, तत्त्वमीमांसा या रहस्य-मीमांसा बन कर नहीं रह जाता अपितु विश्व के सम्पूर्ण कर्म-ज्ञान-विज्ञान की सौन्दर्य-परक व्याख्या देकर कला-दर्शन और काव्य-दर्शन की सृष्टि करता है। भारतीय चेतना की इस सौन्दर्यवादी व्याख्या को यदि हम प्रथम मौलिक प्रयास भी कह दें तो कोई सत्य की अवहेलना न होगी।

प्रत्यभिज्ञान की शैवी समीक्षा

प्रायः सभी दर्शनों में किसी न किसी रूप में ज्ञान-मीमांसा पर विचार करते समय

उसे अनुभव की यथार्थता और अयथार्थता परक बन दिया गया है। अनुभव की यथार्थता प्रत्यक्ष पर आश्रित है। सभी प्रमाणों में प्रत्यक्ष की ज्येष्ठता और श्रेष्ठता प्रायः सभी को मान्य है। किन्तु कोरा ऐन्द्रिक प्रत्यक्ष अधिक दूर तक नहीं चल पाता। अतः प्रत्यक्ष-समर्थित अन्य प्रमाणों की अतिसूक्ष्म या दूरस्थ विषयों के ज्ञान में अपेक्षा रहती है। किन्तु प्रमाणों की कोटि से बहिष्कृत स्मृति और प्रत्यभिज्ञा यद्यपि प्रत्यक्षमूलक हैं तो भी उन्हें दार्शनिकों ने अवान्तर भेद मानकर उपेक्षित कर दिया। अद्वैत-वेदान्त ने शब्द एवम् श्रुतिप्रमाण को ब्रह्म-साक्षात्कार में प्रमाण तो मान लिया किन्तु यह ग्रन्थि न खुली कि भिन्न रूप से अवस्थित जीवत्व और अविद्या के कलुषत्व की निवृत्ति होने से, पूर्व से ही सिद्धवस्तु ब्रह्म का अभेद कैसे सिद्ध हुआ। और यदि ब्रह्म अद्वैत ही है तो माया-अविद्या के रहते हुए भी अद्वैत है। बोध से पूर्व भी अद्वैत है और पश्चात्काल में भी। जीव की दृष्टि से परब्रह्म की अद्वैतता पर जब कोई आँच आती ही नहीं तो जीव को जीव ही रहने दिया जाए तो भी कुछ अन्तर नहीं पड़ता। अतः अद्वैत-वेदान्त की ज्ञान की प्रक्रिया अतिसूक्ष्म होने पर भी मात्र श्रुति पर आश्रित होने से ब्रह्म-बोध की प्रत्यक्षानुभूति की अपेक्षा रहस्यानुभूति अधिक बनती हुई लगती है। और यदि स्व-स्वरूप की उपलब्धि को ब्रह्मानुभव मान लें तो उससे पूर्व स्वरूप-विस्मृति पद की स्थिति को तो मानना ही पड़ेगा। अविद्या-स्थानीय विस्मृति के आते ही श्रुतिवाक्य से उत्पन्न ज्ञान प्रत्यभिज्ञान ही कहा जाएगा। इसी प्रत्यभिज्ञान को स्वीकार कर लेने से वास्तविक अद्वैत या अभेद की सिद्धि होती है।

प्रत्यभिज्ञा या प्रत्यभिज्ञान की प्रक्रिया

इस प्रक्रिया में पूर्वानुभूत यथार्थ की ही वंतर्मान में अभिव्यक्ति होती है, जिससे उत्पत्तिवाद, मायावाद एवम् क्षणभंगवाद आदि दृष्टि-समूह अत्यधिक अर्थवान् नहीं रह जाता है। अभिव्यक्तिवाद के इसी प्रकाशन के कारण आभास, स्वातंत्र्य, आनन्द और सामरस्य का तात्त्विक स्वरूप स्फुट हो उठता है। परमसत् की प्रकाश-स्वभावता, स्वेच्छा, संघटना की स्वस्थता, उन सभी तार्किक विसंगतियों का उत्तर बन जाती है जिनके पारस्परिक विरोध का कहीं ओर छोर नहीं दिखाई दे रहा होता है। पूर्व से ही विद्यमान तत्त्व की अभिव्यक्ति की अवधारणा सांख्य के सत्कार्यवाद में भी रही है किन्तु वहां अभिव्यक्ति जड़ होने से त्रिगुणात्मिका एवम् दुखमूला ही हो रही है। अतः सांख्य की प्रकृति के केवल अचित् या अव्यक्त होने पर भी उसका कोई प्रयोजन या आनन्द का कारण न रहने से सांख्य एकमात्र नीरसता, नैराश्य या दुखवाद का दर्शन बन कर रह गया।

अतः अभिव्यक्ति और प्रत्यभिज्ञा के सम्बन्ध पर दृष्टि स्थिर करते हुए ही हमें प्रत्यभिज्ञा का विश्लेषण करना होगा। उस स्थिति में प्रत्यभिज्ञा की कुछ एक कोटियां हमारे

सम्मुख उपस्थित हो जाएंगी। लोकप्रसिद्ध बहिर्मुख या व्यवसायात्मक प्रत्यभिज्ञा में एक तो यह रूप बनेगा कि बाह्य वस्तु को पहले भी देखा या अनुभव किया है, किन्तु परवर्ती काल में विस्मृति के लुप्त होने के बाद हम उसे फिर उसी रूप में देखते हैं। यह प्रत्यभिज्ञा "आदौ दृष्टम् पश्चादपि दृष्टम्" की कोटि में आ जायेगी। इसका स्वरूप आदि से अन्त तक स्वानुभूत है। हम ने ही पहले देखा और हम ही अब देख रहे हैं। किन्तु एक अन्य रूप भी बनता है जिसमें हमने पहले स्वयम् साक्षात् अनुभव नहीं किया किन्तु औरों से सुना भर था। लेकिन जो कुछ सुना था उसी को अब प्रत्यक्ष कर रहे हैं इसको कहेंगे – "आदौ श्रुतम् पश्चाद्दृष्टम्" वाली प्रत्यभिज्ञा। श्रीहर्ष जैसे महाकवि ने घोर अद्वैतवेदान्ती होते हुए नैषधीय-चरितम् नामक अपने दार्शनिक, ग्रन्थ खण्डनखण्डखाद्य (पृ0 139-144) में प्रत्यभिज्ञा के अस्तित्त्व का निराकरण किया है किन्तु "नैषधीय चरितम्" नामक अपने महाकाव्य में नल और दमयन्ती के प्रेम-व्यापार में दो बार प्रत्यभिज्ञा का प्रसंग खड़ा किया है और दोनों में ही चमत्कृति या आह्लाद की भूमिका बनी है। वहां औचित्य को ध्यान में रखते हुए पहला प्रसंग स्वयं ही उठता है कि भैमी (दमयन्ती) ने नल को नहीं देखा और नल ने भैमी को नहीं देखा फिर भी दोनों के मानस में जो एक दूसरे का चित्र उभरा उसी का प्रत्यक्ष अनुभव परिणय होने पर चरितार्थ हो गया।[24] इसी कथा प्रकरण में कवि ने "आदौश्रुतम् पश्चाद् दृष्टम्" वाली प्रत्यभिज्ञा से ही रस संचार किया है। दूसरे प्रसंग में नल दमयन्ती के वियोग के बाद प्रसिद्ध पंचनली के प्रसंग में दमयन्ती के लिए एक कठिन परीक्षा की स्थिति है। क्योंकि सभा में अब केवल मूल नल ही नहीं अपितु मूल नल के समान ही आकार प्रकार के चार और देवता भी दमयन्ती को पाने के लिए नल का रूप धारण किए बैठे हैं।[25] यह स्थिति 'आदौ दृष्टम् पश्चादपि दृष्टम्' की है

दार्शनिक सन्दर्भ में, पंचनलों की समानता पांच नलों को नलेतर लोगों से तो व्याकृत कर रही है। किन्तु आपसी सादृश्य के कारण कई बार ऐसे लगता है कि प्रत्यभिज्ञा को स्वतंत्र प्रमाण मानने की अपेक्षा उपमान, अनुमान या सादृश्य के किसी भेद में ही डाल देना चाहिए। क्योंकि प्रत्यभिज्ञा में "इदम्" का वर्तमान-बोध भूतकालिक "तत्" के बोध के समान ही है, फिर उपमान में भी "यथा गौ तथागवयः" इस वाक्य के श्रवण के अनन्तर वन में हम गवय को सादृश्य के आधार पर जान लेते हैं, उस ज्ञान में ही "आदौ श्रुतम् पश्चाद् दृष्टम्" एवम् "यादृशं गवि पूर्वं दृष्ट्म तादृशमेव गवयेऽपि" वाली प्रत्यभिज्ञा का अन्तर्भाव हो जाएगा। अथवा अनुमितिवादियों के अनुसार महानस में धूम और वह्नि के व्याप्य-व्यापक सम्बन्ध या अनौपचारिक सम्बन्ध के आधार पर ही "पक्ष" पर्वत पर पूर्वदृष्ट व्याप्ति के प्रत्यक्ष में प्रत्यभिज्ञा अन्तर्भुक्त हो सकती है। लेकिन ये सारे प्रतिवादियों द्वारा सादृश्य के आधार पर खड़े किए हुए भ्रम हैं, जो केवल इतनी सी बात समझ लेने से ही खण्डित हो

जाते हैं कि वास्तविक प्रत्यभिज्ञा का "तत्" में पूर्वदृष्ट सम्पूर्ण विशिष्ट स्वरूप वाली वस्तु का यथावत् उसी विशिष्ट रूप सहित होकर वर्तमान कालिक "इन्दता" में प्रतिफलित हो उठना है। वह वस्तु के स्वरूप का सामान्य-बोध या खण्डित-बोध नहीं है कि उसे अनुमान के सामान्य-बोध में या उपमान के सादृश्य-बोध में उड़ेला जा सके।

प्रत्यभिज्ञा - दर्शन पर विचार करते समय एक और ऐतिहासिक सन्दर्भ को भी उसके मौलिक स्वरूप का निर्णय करते समय ध्यान में रखना होगा कि वैदिक दर्शनों की विचार-धाराओं का पारस्परिक मतभेद किसी न किसी रूप में वैदिक तत्त्व में अनुसंधान या उसी के विभिन्न आयामों के पर्यालोचन में समाविष्ट हो जाता था। किन्तु अवैदिक क्षणभंगवादी विज्ञानवादियों या शून्यवादियों के आकर्षक बुद्धिवाद के विरोध में किसी एक नए दार्शनिक धरातल की खोज आस्तिक चिन्तकों के लिए एक ऐतिहासिक आवश्यकता या अपरिहार्यता थी। विज्ञानवादियों के "सर्वं क्षणिकम्" या "क्षणादूर्ध्वं न तिष्ठति" वाली आलय-विज्ञानधारा में सब कुछ बहा जाता देखकर सम्भवतः सर्वप्रथम पातंजल-योग ने चित्त को प्रवाहमात्र न मानकर एक स्थिरतत्त्व के रूप में स्वीकार किया। बाद में इसी तथ्य को आधारशिला प्रदान करने के लिए योग-दर्शन भाष्यकार व्यास ने बार-बार विज्ञानवादी क्षणभंग के विरोध में तर्क दिया कि विज्ञान, चित्त या चेतना को क्षणिक मान लेने से मानवमात्र में स्मृति का ही नाश हो जाएगा। क्योंकि प्रतिक्षण परिवर्तित ही नहीं, नष्ट होती जा रही विज्ञानधारा में रिकॉर्ड रखने वाला स्थिरत्व तो कुछ भी नहीं है। फिर स्थिरता या नित्यता के अभाव में लोगों में न स्मृति रहेगी न पहचान। क्योंकि जो द्रष्टा पूर्वकाल में था वह अब नहीं रहा, जो अब है वह आगे नहीं रहेगा।[26] अतः व्यास ने स्मृति के यथार्थ को सामने रखकर विज्ञानवादियों के तर्कों को निरस्त करने का प्रयास किया। किन्तु वह स्मृति शायद सम्पूर्ण उत्तर नहीं था।

बौद्धों के क्षणभंगवाद का पूर्ण उत्तर प्रत्यभिज्ञा-दर्शन ने दिया। यह ठीक भी था। क्योंकि काश्मीर उस समय तिब्बत और चीन में उठ रहे उग्र महायानी विज्ञानवाद के प्रभाव की लपेट में आ रहा था। ऐसी स्थिति में मनोवैज्ञानिक तर्कवाद और प्रत्यक्षानुभववाद के आधार पर आचार्य वसुगुप्त, सोमानन्द, उत्पलदेव एवम् अभिनव गुप्त ने जिस प्रत्यभिज्ञा को शास्त्रीय रूप प्रदान कर दर्शन के रूप में उपस्थापित किया, उसने बौद्धों के क्षणभंगवाद के तर्कों का निरासमात्र ही नहीं किया अपितु सम्पूर्ण भारत के वाङ्मय-बोध और कला-बोध को सौन्दर्य-दर्शन की मानविधियां सम्भवतः पहली बार प्रदान की। चमत्कार, आह्लाद, रस, ध्वनि आदि पदों का एकदम भिन्न सन्दर्भों में प्रयोग करने की नवीन प्रणालियों का संचार किया। यह बात दायित्वपूर्ण बोध के साथ कही जा सकती है कि चार्वाक-दृष्टि की अभिगत

स्थूल आनन्द की धारणा को छोड़ कर शेष सभी दर्शन मूलतः वीतराग, उदासीन, दुःखवादी एवम् जीवन के प्रति तटस्थ थे। शैव दर्शन के संस्पर्श ने सांख्य के नीरस द्वैत को और वेदान्त के शून्याद्वय जैसे संन्यासरत अद्वैत को भारतीय काव्यशास्त्र की आधारशिला बनने का अवसर प्रदान किया। सम्भवतः अन्य किसी भी दर्शन में जीवन जीने की इतनी गहरी अभिरूचि हो नहीं थी कि कला-बोध जैसे जीवन-दर्शन को आत्मसात् कर पाते।

वस्तुतः यह दर्शन मूलतः परम सत् की फैली हुई कान्ति की पहचान करने का प्रेरक प्रयास कहा जा सकता है। परमसत् के लिए जिस शिवपद का प्रयोग किया गया है उसकी व्युत्पत्ति शैवगण वर्णव्यत्यय करके "वश् कान्तौ" से करते हैं। फलतः शैव-दर्शन के प्रकाश-विमर्श की मूलधारणाएं उस कान्तिवाची शिव शब्द के सौन्दर्य-दर्शन की ओर ही जिज्ञासुमात्र को अभिमुख करती है।

इस प्रकार प्रस्तुत अध्ययन द्वारा शैवाद्वैत की समीक्षा करने से प्रत्यभिज्ञा दर्शन के असाधारण धर्मों को निम्नभागों में अंकित कर सकते हैं –

1. कामेश्वरी सहित कामेश्वर परमशिव को पर-सौन्दर्य के रूप में प्रस्तुत करना।
2. फलतः सम्पूर्ण जीवन और जगत् की अभिव्यक्ति के प्रति सहज-आस्था।
3. अभिव्यक्ति में से अभिव्यक्त चेतना या चिति के परम रूप का ग्राह्य-ग्राहक अथवा सभी रूपों में प्रत्यभिज्ञान मूलक अनुसंधान एवम् प्रतिसन्धान करना।
4. प्रकाश-रूप शिव एवम् विमर्शरूप चिति के तादात्म्य सम्बन्ध की व्याख्या।
5. ब्रह्म की सत्, चित् एवम् आनन्दरूपता के साथ क्रियातत्त्व का सामञ्जस्य स्थापित करना जिसका निर्देशन सोमानन्द की शिवदृष्टि ग्रन्थ के प्रथम और द्वितीय पद्य में किया गया है।[27]

उपरोक्त लक्षणों का ध्यान रखते हुए हम प्रत्यभिज्ञा के दो पक्षों पर पहुंचते हैं। एक अनुसंधान पक्ष है जिसमें पूर्वकाल में, भात या परिचित तत्त्व भासमान हो रहा है या वर्तमान में प्रत्यक्ष में आ रहा है। इस अपरतत्त्व के अनुसंधान या सामान्य ज्ञान के बल से एक ऐसी दशा का उदय होता है जिसे प्रतिसन्धान या विशिष्ट ज्ञान कहा जाता है। अर्थात् "प्रति" यानि प्रतीपरूप से वर्तमान से उलट कर पूर्वानुभूत के पास पहुंच कर या उसकी ओर अभिमुख हो जाना। इसमें पूर्व-प्रत्यक्ष एवम् अपर-प्रत्यक्ष का अद्भुत समन्वय है अर्थात् "अयं चैत्रः स एव" इस प्रतिसन्धान रूप पूर्व-प्रत्यक्ष का अपर-प्रत्यक्ष "स एवायं चैत्रः" के साथ ऐसी अन्विति है कि "इदन्ता" "तत्ता" में और "तत्ता" "इदन्ता" में घुलमिल कर एक हो जाती है। किन्तु इस प्रत्यभिज्ञा की अभिरूचि "सोऽयं देवदत्तः" या "स एवायं चैत्र" में नहीं है। क्योंकि "सः" और "अयम्" दोनों ही प्रथम पुरुषवाची क्रिया के कर्त्ता हैं। अतः

स्वरूपानुसन्धानमूला प्रत्यभिज्ञा को लौकिकी प्रत्यभिज्ञा से भिन्न करके देखना चाहिए। क्योंकि शैव आचार्य अपनी विशिष्ट प्रत्यभिज्ञा को जिस विशिष्ट विधि से प्राप्त करते हैं उसे "शास्त्रतः गुरुतः स्वतः" की पद्धति कहा जाता है।[28] 'सोऽयं देवदत्त' वाली प्रत्यभिज्ञा कालकृत भेद को लेकर प्रवृत होती है जबकि परम प्रमाता में कहीं भी कालकृत भेद नहीं है। बहिर्मुखी लौकिकी प्रत्यभिज्ञा में भूतकालिक विषय या वस्तु का वर्तमान काल में उसके स्वरूप के साथ तादात्म्य रहता है। वस्तु में भेद न रहने पर भी अवस्था भेद तो रह ही जाता है। किन्तु स्वस्वरूप के अनुसंधान से होने वाली प्रत्यभिज्ञा में न तो कालकृत भेद है न अवस्था जन्य। अपितु अनुभव-तादात्म्य है। इस अनुभव तादात्म्य के बीच स्वात्मसंवेदन की निरवच्छिन्नधारा विस्मृति से इसलिए खण्डित नहीं होती अपितु क्रीडा रस के प्रति औत्सुक्य के कारण नर्तक या नट आत्मा[29] का स्वैच्छिक वरण है। अतः इसकी समानता सब काल में सब भूमियों में एक समान रहने वाले गणित के सिद्धांतों या कला चित्रों के साथ भी नहीं की जा सकती। क्योंकि वहां कोई वरण का प्रश्न ही नहीं है और विकल्प भी नहीं है।

प्रत्यभिज्ञान सम्बंधी प्रक्रिया-बोध को लेकर कुछ एक शंकाएं उठ सकती हैं। उनमें से एक तो यह हो सकती है कि प्रत्यभिज्ञा में जिस किसी भी वस्तु, शक्ति, व्यक्ति या अनुभव का बोध होता है उसमें किसी एक विशिष्ट तत्त्व का बोध नहीं हो सकता। क्योंकि उस वस्तु, विषय, व्यक्ति या अनुभव के साथ दिक् और काल के सदा साथ लगे रहने से किसी केवल तत्त्व या शुद्ध तत्त्व का स्फुरण नहीं होगा, अपितु कुछ न कुछ तत्त्व वस्तु से भिन्न परिच्छिन्नता या सखण्डता का भी कुछ न कुछ अंश मिला रहेगा। अतः निष्कल तत्त्व का साक्षात्कार प्रत्यभिज्ञा में सम्भव ही नहीं। सकल का अनुभव ही प्रत्यभिज्ञा में संगत हो सकता है और सकल वा सखण्ड बोध के रहते भला अखण्डता, तादात्म्य या सामरस्य का अभेद सम्बन्ध पद-पदार्थों में कैसे होगा।

दूसरी शंका यह भी हो सकती है कि प्रमाता भला क्योंकर प्रत्यभिज्ञा का विषय हो सकता है। क्योंकि यह सिद्धांत है कि जिस वस्तु के प्रति हमारा अभिज्ञान होता है वह वस्तु हमारे अभिज्ञान का विषय बन जाती है। चेतन प्रमाता अपना विषय स्वयं नहीं हो सकता। अतः चेतन प्रमाता या पर-प्रमाता के अभिज्ञान की बात सिद्धांत सम्मत नहीं। लेकिन तो भी शैव दर्शन स्वात्म प्रत्यभिज्ञा की बात करता है।

एक छोटी सी शंका और भी हो सकती है और वह यह कि जगत् की गतिविधि में अटपटापन देखकर कई बार हमें ऐसा अनुभव होता है कि बिना किसी संस्मरण के ही कोई वस्तु या व्यक्ति हमें पूर्वपरिचित की सी तरह, अपनी तरफ हमारा ध्यान आकृष्ट करता रहता है। अब यहां प्रश्न यह उठता है कि क्या बिना स्मृति के भी प्रत्यभिज्ञा का कोई स्वरूप

खड़ा हो सकता है। अथवा वहां कोई अबोधपूर्वक चित्त से या किसी अज्ञात संस्कारवश कोई निगूढ़ स्मृति ही काम कर रही होती है।

उपरोक्त इन तीन शंकाओं में से प्रथम शंका का समाधान तो शैवाचार्य यह कह कर दे सकते हैं कि निष्कल या सकुल ये दोनों ही बोध सापेक्षता की खूंटियों पर ही अटके हुए हैं। निष्कलता क्या कोई अनुभूति की दशामात्र है या कोई शब्द ? अतः शैव-चिन्तन इस तरह की निरर्थक शाब्दी-क्रीड़ा का यह कह कर समाधान कर सकते हैं कि प्रत्यभिज्ञा सखण्डता या अखण्डता के बोध का चक्कर नहीं है अपितु सम्पूर्णता या समग्रता की पहचान है। इस सम्पूर्णता में सकल और निष्कल, व्यष्टि या समष्टि परस्पर अभिन्न भाव से रहते हैं। प्रत्यभिज्ञान में प्रमाता अपने में ही स्थित अपनी प्रमा-शक्ति को तादात्म्य के साथ अनुभव करता है।

दूसरी शंका का उत्तर यही हो सकता है कि प्रमाता भले ही प्रत्यभिज्ञा का विषय न हो सके क्योंकि वह विषय नहीं है। तो भी उससे अभिन्न एवम् धर्म-धर्मीभाव से उसके साथ एक रस होकर उसकी चितिशक्ति या संवित् तो उसके अपने अनुभव का विषय बन ही सकती है। उस स्थिति में आत्मबोध का अर्थ शिव का स्व-शक्ति से संस्फुरण हो जाएगा।

तीसरे प्रश्न के सन्दर्भ में कहा जा सकता है कि किसी भी दशा में जीव को अपने मूलस्वरूप शिवता से विच्युति तो सम्भव ही नहीं। फिर आणव मल, मायीय मल एवम् कार्म मल के दबाव के कारण मूलस्वभाव संस्कार या स्मृति का तिरोभाव तो सकता है, लोप नहीं। अतः अबोधपूर्वक भी स्मरण या स्मृति के प्रसंग की बात महाकवियों ने की है।[30] उस अज्ञातता की दशा में भी एक अतिसूक्ष्म जन्मान्तरीय आन्तर सम्बंध की कल्पना शैव-कवि को अभिमत है[31] जिससे अर्ध जाग्रत या अर्धसुप्त स्मृति का पता आधुनिक मनोविज्ञान के अचेतन मन की सुषुप्ति में भी प्राप्त हो सकता है। प्राचीन मान्यता के अनुसार अनभ्यस्त शिशु की जन्मते ही स्तन्य पीने की सहजातवृत्ति गत जन्मान्तर की अबोधपूर्वक होने वाली स्मृति का ही फल है।

प्रत्यभिज्ञा-दर्शन में क्रिया का स्वंरूप –

यह ठीक है कि जिस समय नवम् शताब्दी के लगभग काश्मीर शैव-दर्शन का अभ्युदय हो रहा था तो भारतवर्ष में आचार्य गौडपाद और आचार्य शंकर के शिष्यों द्वारा ज्ञान और कर्म के शाश्वत विरोध की बात क़ा प्रचार जोरों से चल रहा था। पूर्वमीमांसा के कर्मवाद को निकृष्ट और उत्तरमीमांसा प्रतिपादित ज्ञानवादी कैवल्यवाद को ही चरम ध्येय रूप में प्रतिपादित किया जा रहा था। ज्ञान और क्रिया के नितान्त विरोध को सामने रखकर ही ब्रह्म को निष्क्रिय ही नहीं बल्कि निर्विकल्पक क्रियाशून्यता की स्थिति में खड़ा किया जा

रहा था। ऐसी स्थिति में काश्मीर-शैव-दर्शन ज्ञान और क्रिया के अभेद-सम्बंध को अग्रसर कर के ऐसा प्रयास कर रहा था जिससे अनुभूति, ज्ञान और क्रिया के बीच में एक तारतम्य दिखाई दे सके।

इससे पूर्व कर्म और क्रिया के स्वरूप का विचार यास्क, जैमिनि, न्याय-वैशेषिक और व्याकरण के विद्वान् लोग कर चुके थे। लेकिन वह सारा चिन्तन मध्यकाल की इस विचारणा के प्रवाह में बहा जा रहा था कि मृत्युकाल प्राप्त होने पर क्रियार्थक डुकृञ् आदि धातुओं का पाठ बेकार हो जाएगा। मृत्यु से रक्षा तो ब्रह्मज्ञान ही करेगा। यास्क ने जीवन की निर्व्याज यथार्थता को सामने रखकर भावप्रधान आख्यात पद की व्याख्या करते हुए भाव के अन्दर रहने वाले पूर्वापरीभाव या जीवन क्रम को छः क्रिया प्रयोगों द्वार स्पष्ट किया है।[33]

इस प्रकार सम्पूर्ण जीवन और जगत् का मूल ही क्रिया को ठहरा दिया। परवर्ती नैरूक्तों ने क्रिया के इस रूप का समर्थन करते हुए इसकी सूक्ष्मता की और व्याख्या की, और कहा कि मूल धातु का अर्थ ही भाव या भावना होता है और वही उत्पादन-शक्ति है, वही क्रिया है। उसमें सिद्धि की प्रधानता नहीं होती, साध्यावस्था ही प्रधान होती है। जिससे एक क्रम बनता है।[34] इस क्रिया और क्रम के साथ काल का घनिष्ठ सम्बन्ध है। क्रिया में भेद या क्रम पैदा करने के लिए ही कालतत्त्व का अवतरण होता है। अतः वाक्यपदीय में कहा भी है कि संख्या तो सर्वत्र भेद करने में समर्थ है किन्तु क्रिया के विभिन्न रूप तो कालकृत ही होते हैं।[35] अतः क्रिया और काल का घनिष्ठ सम्बंध है। यह क्रिया कर्मरूपा भी है और करण रूपा भी। पाणिनि व्याकरण के अनुसार – "क्रियते हि या सा क्रिया" इस अर्थ में "कृञः श च" सूत्र से कर्म में 'श' प्रत्यय आ जाएगा।[36] लेकिन यदि "क्रियतेऽनया इति क्रिया' ऐसा अर्थ लें तो क्रिया कारण रूपा या करण रूपा हो जाएगी। अतः व्याकरण के अनुसार तो जब क्रिया ही कर्ता की ईप्सित होगी तो वह कर्म बन सकती है और वही यदि कर्ता की अभीष्टसिद्धि का साधन बन जाए तो कारण भी हो सकती है। लेकिन भारतीय दर्शन में सम्भवतः क्रिया और कर्म का भेद इतना स्पष्ट नहीं है।

प्रत्यभिज्ञा-दर्शन में क्रिया के इन सभी रूपों को सामान्य लोक के स्तर पर भी देखा गया है और परिस्पन्द के रूप में परमशिवता में भी। शिवता में इच्छा शक्ति और क्रिया-शक्ति दोनों का समावेश है। स्वछंद-तंत्र की उद्योत-टीका में मालिनी-विजय को उद्धृत करते हुए कहते हैं इच्छामात्र के साथ ही शिव क्रियाशक्ति से संपूर्ण तत्त्व-समूह को आभासित करते हैं। परमशिव के इच्छित संकल्प का उसी रूप में आकारित हो उठना ही क्रिया का लक्षण है।[37] सम्भवतः क्रिया को इच्छा या संकल्प के अतिनिकट देखकर ही स्वछन्द-तंत्र के जनार्दन-

विष्णु को क्रियाशक्ति कहकर उसका तादात्म्य सदाशिव के साथ किया है। ज्ञानशक्ति के प्रतीक ब्रह्मा को तत्त्वक्रम में सदाशिव के बाद ईश्वर पद प्रदान किया है।[38]

शैव दर्शन के क्रिया सम्बन्धी प्रस्तुतीकरण से ऐसा लगता है कि नैरूक्त या वैय्याकरण क्रिया के जिस रूप को अपनी आवश्यकता के अनुसार वैखरी वाक् के स्तर पर विश्लिष्ट करने में अधिक रत रहे उसी का विश्लेषण शैवों ने परा और पश्यन्ती के स्तरों पर उतर कर किया है। दूसरे लोग जो क्रिया को केवल अभिव्यक्ति के बाह्य स्तर पर ही देख पाते थे, उन्हें शैवों ने क्रिया के उस रूप से परिचित कराया जो सृष्टि के निम्नतम क्रम से लेकर ऊपर सदाशिव में भी विद्यमान है।[39] वह क्रिया ही महामाया शक्तिभूमि में और मायापद में अपने वैचित्र्य को प्रकाशित करने के लिए कालक्रम का सर्जन करती है।[40] काल तो नीचे ही रह जाता है[41] पर क्रिया का स्वरूप सदाशिव से भी ऊपर विमर्श-शक्ति, आद्य-परिस्पन्द या परमशिव की स्वातंत्र्य शक्ति में निहित है। उन परंमशिव का जो स्वरूप सृष्टि के आदि या पूर्व में है वही रूप कल्पान्त में है। उसमें कुछ घटाना बढ़ाना नहीं है।[42] अतः जो क्रिया उससे सम्बद्ध है वह उसी रूप में सर्वदा उसी में समवेत है। केवल उसके रूप का अन्तर विभिन्न स्तरों पर विभिन्न रूपों में आभासित होने लगता है। अन्यथा वह क्रिया उस परमशिव के सर्वकर्तृत्व में ही निहित है जहां सहज रूप में ही कामना, क्रिया और ज्ञानता परस्पर में रूपान्तरित होती रही हैं। यही उनका समरसी भाव है। कामना भी वहां क्रिया ही है। और क्रियाहीन कामना की कल्पना भी निरर्थक ही लगती है।[43] इस पर आचार्य उत्पलदेव का कहना है कि चिद्रपु स्वतंत्र परमेश्वर की विश्वात्मरूप में होने की इच्छा ही जगत् के प्रति कारण है। वह कर्तृतारूपा क्रियाशक्ति ही है।[44] इच्छा और क्रिया की एकरूपता प्रतिपादन के अनन्तर आगमाधिकार में उन्होंने ज्ञान और क्रिया के ऐक्यरूप का प्रतिपादन किया है।[45] इस प्रकार त्रिक-शास्त्र परमसत् में इच्छा, ज्ञान और क्रिया में मूलतः अविभाग को ही देखता है।[46] अपने-अपने विषय के भेद से केवल इच्छा, ज्ञान और क्रिया का प्रस्फुटन तीनों में से किसी एक को प्रमुख करके तथा अन्य को गौण मानकर है।[47] ये तीनों शक्तियां प्रस्फुटन काल में भी समरस हुई रहती हैं। क्योंकि ये सभी शक्तियों पर प्रकाश-शिव की ही भिन्न भिन्न रूप से प्रतिभात होने की सामर्थ्य मात्र ही है। उसी की परम उदारता के फलस्वरूप इन सबका अवभासन हो रहा है। उसकी भासना शक्ति ही मूलतः क्रिया-शक्ति है जिससे विचित्र तत्त्वों की सृष्टि हो जाती है।[48]

इस भासनारूप परमा-क्रियाशक्ति के प्रस्फुटन के साथ ही आगे का समस्त सृष्टि का कल्पना-क्रम आरम्भ हो जाता है।[49] परमशिव की इस भासना रूप पराक्रिया को ही हम सृष्टि-काली और संहार-काली के रूप में आगम एवम् तंत्र के स्वरूप में देख सकते हैं। वह परमशिव की सर्व-कर्तृता है। उसी के छोटे-छोटे रूप सृष्टिक्रम में सृष्टि की सभी

खण्ड-क्रियाओं में नाना रूप में उठ रहे हैं, लीन हो रहे हैं। इसलिए यह कहना न्याय्य ही होगा कि शैवाद्वैत के अनुसार सभी शक्तियां उस परमशिव की ही इस भासनारूप महाकाली शक्ति को साथ लेकर सृष्टिक्रम में परमशिव से ही उसकी अपनी अनन्त विराटता में प्रस्थान करती है और संहारक्रम में उसी में आकर समाहित हो जाती है।

अभी तक हमने शैवागम में क्रियाशक्ति के अतिलौकिक या अतिक्रान्त रूप की ही चर्चा की है। क्योंकि वही मूला क्रिया है। अब हम उसी के अवभासन को सृष्टि या लोक के स्तर पर भी देखते हैं। पारिभाषिकता के स्तर पर शैव आचार्य उसे अशुद्ध-अध्वा में क्रिया का अवतरण कहेंगे। क्योंकि शिवदशा में जो क्रिया अतिदुर्घटकारी स्वातंत्र्य के रूप में थी[50] वह मायाध्व में प्रमाता, प्रमेय के भेद से क्षितितत्त्व तक विकसित होते होते संकोच को प्राप्त कर गई।

उसी से सृष्टि में व्याप्त खण्ड क्रियाओं का जन्म, स्थिति, लय, भूत, भविष्यत् और वर्तमान आदि कालदशाओं का प्रादुर्भाव हुआ। इस विषय में 'श्रीनेत्रतंत्र" का यह कहना कि पराशक्ति ही ज्ञानरूपा होती हुई जब स्वतंत्र और अलुप्त भाव से रहती है तो वही करण-रूपा क्रिया है। फिर वही क्रिया पचास वर्ण, अष्टविधशब्द, समस्त मंत्रादिमय शुद्धाशुद्ध जगज्जमनी मातृका माहेश्वरी क्रियाशक्ति ही परावाग्रूपा सब प्रकार के कर्मेन्द्रिय वागिन्द्रिय के व्यापारों में स्फुरित होने लगती है।[51] वह अक्रमा होते हुए भी विश्व में कालशक्ति के कारण सक्रमा हो जाती है।[52] क्रिया के इसी रूप में घट-पटादि रूप जगत् का आभास होता है। इसी को लेकर न्याय-वैशेषिकों के कालतत्त्व का स्वरूप वर्णन है। उनका काल उत्पत्ति, स्थिति, लय के लक्षण से[53] युक्त होने के साथ साथ सृष्टि के समस्त जन्य पदार्थों का जनक भी है और उनका आश्रय भी।[54]

कहना न होगा कि वैशेषिक-गण जिस काल और क्रिया के सम्बंध को लेकर चले हैं उसमें काल और क्रिया के व्यवहारगम्य रूप का ही वर्णन मात्र है। वहां क्रिया सात पदार्थों के क्रम में तीसरे स्थान पर कर्मरूप में स्थित है[55] तथा काल की गणना नौ द्रव्यों में छठे स्थान[56] पर है। अतः वहां काल-द्रव्य का क्रिया-पदार्थ से अपना भिन्न स्वातंत्र्य है। सम्भवतः वहां यह अपेक्षित भी नहीं था कि काल और कर्म के मूल स्वभाव की बहुत छानबीन की जाए। बल्कि व्यावहारिक उपयोगिता के स्तर पर ही बात समाप्त होती लगती है। सांख्य, योग और वेदान्त ने तो उनके स्वरूप विवेचन की अपेक्षा, उपेक्षा को ही सही समझा। क्योंकि काल और क्रिया जैसे सृष्टि के मूल उपादान सभी जड़-माया और अविद्या की प्रसूति होने से मूलतत्त्व-चर्चा के आगे फीके पड़ गए। जब प्रकृति और उसकी सर्जनशक्ति दोनों ही कैवल्य और मोक्ष में अनुपयोगी हों तो दिक्, काल और क्रिया जैसे तत्त्वों के उपयोग का प्रश्न कहां

रह जाता है।

दार्शनिक परिचर्चा में, सम्भवतः कर्म और काल के विषय में भगवत्-गीता पहली बार महत्त्वपूर्ण प्रसंग उठाती है। तीसरे अध्याय में कर्म की स्थिति को स्पष्ट रूप में समझाते हुए कहा गया है कि विश्व में ऐसा कुछ भी नहीं है जो अक्रिया या निष्क्रियता की स्थिति में खड़ा हो सके। प्रकृतिनिष्ठ त्रिगुण सृष्टि के मूल में होने के कारण क्रियाहीन किसी वस्तु या तत्त्व की कल्पना ही नहीं हो सकती।[57] दसवें अध्याय में काल के विषय में दो बार और ग्यारहवें में एक बार चर्चा करते हुए स्पष्ट संकेत दिया गया है कि कलना या संख्या अथवा क्रम, यह काल का एक पक्ष है।[58] अक्षयता उसका दूसरा पक्ष है।[59] वह शाश्वत भी है। विश्वरूप दर्शन में - "कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्धः"[60] की व्याख्या में मधुसूदन सरस्वती कहते हैं कि काल ही क्रिया-शक्ति से उपहित सबका संहर्ता है।[61]

ऐसा प्रतीत होता है कि भारतीय दर्शन में काल और क्रिया के सम्बंध की खोज तो परवर्ती काल की है किन्तु शब्दागमिकों अथवा वैय्याकरणों को इसका बोध पूर्वकाल में ही हो चुका था। जिसका परवर्ती प्रतिफलन शैवागम में आकर समन्वित हो गया। किन्तु प्रस्तुत शैवशास्त्र ने उस सम्बंध को जो क्रम दिया वह एकदम नया था। अभिनवगुप्त ने अपनी विमर्शिनी टीका में स्पष्ट किया है कि क्रिया के प्रसंग में ही मैंने कालशक्ति का विचार किया है।[62] ईश्वर प्रत्यभिज्ञा के क्रियाधकार के प्रथम विमर्श की पांचवी कारिका[63] की व्याख्या करते हुए अभिनव देशक्रम और कालक्रम के भेद से दिक् और काल के स्वरूप को नए सिरे से प्रस्तुत करते हैं। उनका कहना है कि परमेश्वर मूर्तियों यानि संवेद्यरूप भावों के वैचित्र्य को आभासित करके गृह, प्रांगण, विपणि, मन्दिर आदि के भेद से देशगत विस्तार का संपादन करते हैं तथा क्रिया के वैचित्र्य के निर्भास से भूत, भविष्यत् और वर्तमान आदि कालक्रम को सम्पन्न करते हैं। किन्तु देश और काल सर्वत्र भेद के आपादक होने पर भी परमेश्वर के ऐक्य में भेद नहीं पैदा कर पाते। क्योंकि काल की अवस्थिति वेद्य भावों या वस्तुओं में है, संवित् में नहीं।[64]

इस प्रकार क्रियाशक्ति से कालशक्ति का अवभासन मानकर शैव-आचार्य पारमेश्वरी-क्रिया को एक तो इच्छाशक्ति और ज्ञानशक्ति की सहवर्तिनी आद्या-स्पन्दरूपा मान लेते हैं, जो क्रिया का अतिभौतिक सा स्वरूप है। दूसरा उसका वह रूप जो लोक में अभिव्यक्त है वह भी इच्छा और ज्ञान की अपेक्षा कोई अवर रूप नहीं है। अभिनव कहते हैं कि ज्ञान यदि क्रिया में उपयोगी है तो क्रिया भी ज्ञान में उतनी ही उपयोगी है। अर्चनादि क्रिया से रहित ज्ञान कभी दृढ़ नहीं हो पाता।[65] अतः योग, क्रिया और तत्त्वारूढ़ मति अथवा ज्ञान ये कोई नितान्त भिन्न शक्तियां नहीं है।[66] उत्पलाचार्य ने आगमाधिकार की प्रथम कारिका

में ही क्रिया के अन्तवृर्त्ति और बहिवृर्त्ति में भेद करके ज्ञान और कर्म के अन्योन्य अवियोग का प्रतिपादन किया है।[67] जो अपने आप में एक मौलिक दार्शनिक उपलब्धि है। यह मानकर चलना कि परमदशा में भी उसका स्वाभाविक धर्म जो ज्ञत्व और कर्तृत्व रूप है उन्हीं के माध्यम से शिव के ईप्सिंत या इच्छा का स्फुरण सहज भाव से होता रहता है।[68] यह एक ऐसी धारणा थी जिसका स्वरूप अन्यत्र मिलना दुर्लभ ही था। इसी शैवी धारणा की व्याख्या रामकण्ठाचार्य अपनी विवृति में करते हैं।[69]

वस्तुतः काल और क्रिया, क्रिया और कर्तृत्व के सम्बन्धों पर जो विचार जिस ढंग से किया गया है, वह प्रत्यभिज्ञा दर्शन का असाधारण प्रयास ही कहा जाएगा। चिति के साथ क्रिया का सामञ्जस्य और क्रिया का चेतन कर्तृत्व के साथ समन्वय पूर्ववर्ती दर्शनों में इसलिए कठिन हो रहा था क्योंकि उनमें बौद्धिक स्तर पर कहीं यह अड़चन आ जाती थी कि जो कर्ता होता है वह फलभोक्ता भी होता है। अतः परमशिव में कर्तृत्व और भोक्तृत्व मान लेने से उसमें अशुद्धि या कालुष्य की भी कल्पना करनी पड़ेगी। जीव का जड़त्व शिव में भी आ जाएगा जो मूलतः शुचिमद् है। किन्तु काश्मीर शैवदर्शन की स्पन्दशाखा ने बड़ी सहजता के साथ कार्यता और कर्तृता में सम्बन्ध ढूंढ लिया। वहां कहा गया कि कर्तृत्व तो सर्वदा अक्षय है किन्तु कार्यता का क्षय और उदय होता रहता है।[70]

क्रिया कर्तृत्व का ही मूल धर्म है। स्पन्दकारिकाकार क़ा कहना है कि परमशिव की क्रिया - शक्ति ही पशुजीवों में वर्तमान है। वह अज्ञात होने पर बन्धन करती है तथा ज्ञात होने पर सिद्धि का उपादान करती है।[71] यही क्रियाशक्ति वाक्‌रूपा क्रियाशक्ति के रूप में पशु-प्रमाताओं में प्रस्फुटित होकर ज्ञान के विविधिरूपों का प्रसार करती है।

अन्त में हम शैवागम के अनुसार क्रिया की तीन दशाओं का निरूपण करके इस विषय का समाहार करते हैं। प्रत्येक क्रिया अपने कर्ता के साथ तीन रूपों में स्थित रहती है। कर्ता क़ी दूसरी उद्युक्त अवस्था में क्रिया उसके साथ कार्योन्मुखी होने के कारण या किंचदुच्छूनता के कारण, भेदाभेद भाव से रहती है। लेकिन जब क्रिया कार्य को जनित करती है। तो कर्ता की प्रवृत्त दशा में क्रिया प्रकट भाव से रहती है। शैवपरिभाषाकार मृगेन्द्र-आगम की इस धारणा को पुष्ट करते हुए उद्धृत भी करता है[72] और इस शंका का निराकरण भी करता है कि यदि कोई यह समझे कि ईश्वर प्रवृत्ति का कारण होने से विकारी मानना पड़ेगा तो उसे यह समझ लेना चाहिए कि शैव-शास्त्र के अनुसार कर्तृत्व या कर्तापन दो प्रकार का है। प्रथम प्रकार का कर्तृत्व संकल्पमात्र से होता है, दूसरा किसी करण या साधन के द्वारा संकल्प से होने वाला कर्तृत्व जो ब्रह्मा आदि के मन में सृष्टि के उत्पादन के लिए होता है। शिव का कर्तृत्व केवल मात्र शक्ति के साथ रहने मात्र से सन्निधि रूप है।[73] इस

सन्निधि रूप कर्तृत्व में क्योंकि कोई भी कारण या बाह्य साधन रूप उपाधि की अपेक्षा नहीं रहती, अतः परमविमल शिव में कर्तृत्व से कोई विकारी-पन नहीं आता।[74]

इस सन्निधिरूप अप्रयास कर्तृत्व के बाद दूसरी अवस्था में हिरण्यगर्भ या ब्रह्मा आदि की संकल्परूप मनोव्यापार से सृष्टि होती है। "बहुस्याम् प्रजायेय"[75] अथवा "स ईक्षत्[76]" या "लोकान्नुसृजा इति"[77] आदि संकल्प व्यापार रूप क्रिया का द्वितीय रूप है। क्रिया का तृतीय रूप कुलाल की दण्ड, चाक एवम् मृत्तिका रूप उपकरणों से सिद्ध होने वाली विकारी क्रिया का रूप है। जो स्थूल जगत में संकुचित होकर व्याप्त है।

क्रिया और कर्तृत्व के इस प्रसंग में शैवों ने अत्यन्त सूक्ष्मता से विचार किया है और उन लोगों के ऐसे प्रश्नों का भी समाधान किया है जो यह समझते हैं कि क्रिया तो सदेह व्यक्ति का व्यापार है और शिव तो विदेह है, अतः वहां सन्निधि या समीपता मात्र से क्रिया कैसे हो सकती है। पौष्करागम का कहना है कि क्रिया सदेह में तो होती ही है पर अदेह में भी होती है जैसे कि किसी व्यक्ति के अपने ही देह में क्रिया, उसके निस्पन्द चैतन्य के विद्यमान होने मात्र से ही क्रिया या स्पन्द होना शुरू हो जाता है।[78] अवरोह क्रम में शिव से आगे सदेह तत्त्वों के भीतर क्रिया के जिन रूपों का उल्लेख किया जा सकता है। उस नवधा क्रिया का उल्लेख पूर्ववर्ती कोशकारों ने पहले भी किया हुआ था।[79] किन्तु क्रियातत्त्व की सांगोपांग व्याख्या का निर्दुष्ट प्रयास काश्मीर शैवदर्शन की अपनी उपलब्धि है और परमेश्वर के साथ कर्तृत्व का और क्रिया के साथ सही तालमेल बैठाना भारतीय दर्शन की इससे पूर्व निश्चय ही दुःसाध्य समस्या थी।

तत्त्व विचार :-

स्वकीय कार्य में धर्म समुदाय में या स्वसमान गुणवाले वस्तु में सामान्य रूप से व्यापक पदार्थ को तत्त्व कहते हैं।[80] तन् धातोरुत्तरं कर्तृवाच्ये क्विप् प्रत्यये तत् इति सिद्धम् तन् धातोरर्थः - विस्तारो विस्तृततिर्व्यापितरिति यावत्। यः सर्व देशेषु सर्वकालेषु व्यापकत्वेन सर्वत्र वर्तते। अतएव ब्रहैव तत्पदार्थः। तत् इत्यस्य भावो धर्मो वा तत्त्वम् परमशिवतः क्षितिपर्यन्त षटत्रिशत् पदार्थाः"[81] इससे पूर्व भी तंत्रालोक में कहा गया है कि स्वातंत्र्यशक्ति के कारण शिवपद के जो नाना रूप भासित हो रहे हैं उनमें शिवतत्त्व के रहने से तत्त्वता आ ही जाती है।[82] शैव इन तत्त्वों को मुख्य रूप से तीन भागों में बांटते हैं।

1. शिवतत्त्व[83]
2. विद्यातत्त्व
3. आत्मतत्त्व[84]

तत्त्वभेद क्रम –

1. शिवतत्त्व :- शिवतत्त्व, शक्तितत्त्व
2. विद्यातत्त्व :- सदाशिव, ईश्वर, शुद्धविद्या
3. आत्म तत्त्व :- 1. माया, 2. कला, 3. विद्या, 4. राग, 5. काल, 6. नियति 7. पुरुष. 8. प्रकृति, 9. बुद्धि, 10. अंहकार, 11. मन, 12. श्रोत्र, 13. त्वक्, 14. चक्षु, 15. जिह्वा, 16. प्राण, 17. वाक्, 18. पाणि, 19. पाद, 20. पायु, 21. उपस्थ, 22. शब्द, 23. स्पर्श, 24. रूप, 25. रस, 26. गन्ध, 27. आकाश, 28. वायु, 29. अग्नि, 30. जल, 31. पृथिवी।[85]

परमेश्वर में विश्व सृष्टि की इच्छा उत्पन्न होते ही उसके दो रूप हो जाते हैं – शिव रूप तथा शक्ति रूप। शिव प्रकाश रूप है और शक्ति विमर्शरूपिणी। विमर्श का अर्थ है – पूर्ण अकृत्रिम अहं की स्फूर्ति।[86] यह स्फूर्ति सृष्टिकाल में विश्वाकार स्थिति में विश्वप्रकाश तथा संहारकाल में विश्व-संहरण रूप होती है।[87]

इसी की चित्-चैतन्य, स्वातंत्र्य, कर्तृत्व, स्फुरत्ता, सार, हृदय, आदि अनेक संज्ञाएं हैं। प्रायः प्रमा के दो रूप होते हैं – अहमंश और इदमंश। अहमंश ग्राहक शिव है और इदमंश ग्राह्य शक्ति है। विमर्श के द्वारा प्रकाश का अनुभव होता है और प्रकाश की स्थिति में विमर्श की कल्पना न्याय है। जिस प्रकार दर्पण के बिना मुख के रूप का प्रत्यक्ष नहीं है। उसी प्रकार विमर्श के बिना प्रकाश का स्वरूप सम्पन्न नहीं होता। शिव चिद्रूप है परन्तु अचेतन है। शिव में चेतनता का ज्ञान शक्ति के कारण होता है। शक्ति के बिना शिव शव है।[88] पुण्यानन्द ने कामकला-विलास में, आद्याशक्ति को "शिवरूप विमर्शनिर्मलादर्श" कहा है।[89] शिवशक्ति के विषय में आगम का स्पष्ट कथन है कि इन दोनों का अभेदाभेद वैसा ही है जैसे चन्द्रमा और चान्दनी का नित्य योग।[90] आचार्य सोमानन्द का कथन है शक्ति से सम्पन्न शिव ही अपनी इच्छा से पदार्थों का निर्माण करते हैं। शिवशक्ति में भेद कल्पना असम्भव है।[91]

इसी शिवशक्ति ने अन्तरनिमेष को 'सदाशिव' तथा बाह्य उन्मेष को "ईश्वर" कहते हैं।[92] सदाशिव में अहमंश इदमंश को आच्छादित करता है तथा जगत् का अव्यक्त रूप भान होता है।[93] सत्ता का आरम्भ यहीं से होने के कारण इसी से इसका नाम "सादाख्या" तत्त्व है।[94] इसे यूं भी कहा जा सकता है कि जैसे किसी कलाकार में प्रथम उच्चकोटि के निर्माण की इच्छा होती है। यह कुछ-कुछ वैसा ही है।[95] जो सदाशिव का बाह्यरूप है। पंचम तत्त्व को विद्या, सद्विद्या या शुद्धविद्या कहते हैं। ज्ञान की इस दशा में "अहं" तथा इदं का पूर्ण सामानाधिकरण्य रहता है अर्थात् दोनों की समानरूपेण स्थिति रहती है।[97] तत्पश्चात् विकासदशा में मायाशक्ति "अहं" और "इदं" को पृथक्-पृथक् कर देती है।[98] माया उस

देव की व्यतिरेकी शक्ति है।[99] अहमंश प्रकृति बन जाते हैं परन्तु शिव को पुरुष रूप में आने के लिए माया पांच उपाधियों (कला, विद्या, राग, काल, नियति) की सृष्टि करती है।[100] जिनका पारिभाषिक नाम कंचुक है।[101]

जीव की सर्वकर्तृत्व शक्ति को संकुचित करने वाला तत्त्व कला है, जिसके कारण जीव किंचित् शक्ति युक्त बन जाता है।[102]

सर्वज्ञता का संकोच करने वाला तत्त्व "विद्या" कहलाता है जिसके कारण जीव किंचित होता है।[103]

नित्यतृप्तितत्त्व गुण के संकोच का कर्ता "राग" तत्त्व कहलाता है। जिससे जीव विषय से अनुराग करने लगता है।[104]

नित्यत्व को संकुचित करने वाला तत्त्वकाल है जिसे देहादिकों से सम्बद्ध होकर जीव अपने को अनित्य मानने लगता है।[105]

जीव की स्वातन्त्र्य शक्ति को ह्रास करने वाले तत्त्व को "नियति" कहते हैं, जिसके कारण वह नियमित कार्यों को करने में प्रवृत होता है।[106]

इन्हीं पांचों कला, विद्या, राग, काल तथा नियति को जीवस्वरूप का आवरण करने के कारण कंचुक कहते हैं। इस माया-जनित कंचुकों के द्वारा आवृतशक्ति जीव "पुरुष" है।[107] त्रिगुणमय महत्-तत्त्व से लेकर पृथ्वी पर्यन्त तत्त्वों का मूल कारण प्रकृति है।[108] "यह ऐसा है" - इस प्रकार निश्चय करने वाला बुद्धि तत्त्व है। यह दो मलों से आवृत है – आणव मल और कार्ममल।[109] यह मेरा है, यह मेरा नहीं है "इस प्रकार के अभिमान का साधन "अंहकार तत्त्व है।"[110] "करूं या न करूं" इस प्रकार के संकल्प विकल्प का कारण मन है।[111] शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध को ग्रहण करने वाली श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, जिह्वा, प्राण ये पांच ज्ञानेन्द्रियां हैं।[112] वचन, आदान, विहरण, विसर्ग, आनन्द के साधन क्रमशः वाक् पाणि, पाद, पायु, उपस्थ - ये पांच कर्मेन्द्रियां है।[113] शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गन्ध ये पाँच समान रूप के हैं। प्रत्येक में अपने को छोड़कर अन्य कुछ नहीं रहता। इसलिए इन्हें तन्मात्राएं कहते हैं।[114] अवकाश देने वाला आकाश, संजीवन वायु, दाहक और पाचक अग्नि, भिगोने वाला जल, धारण करने वाली पृथ्वी - ये पांच भूत-तत्त्व हैं।[115]

दीक्षा का स्वरूप –

दीक्षा वह कार्य है जिससे आध्यात्मिक ज्ञान होता है और अज्ञान का आवरण नष्ट होता है।[116] दीक्षा से ही जीव परशक्ति से जुड़ता है और ईश्वर का अनुग्रह रूप शक्तिपात प्राप्त करने का पात्र बनता है।[117] शक्तिपात के कई रूप हैं। पर संक्षेपतः कहें, तो यह वह दैवी

इच्छा है जो जीव को आध्यात्मिक ज्ञान की ओर ले जाती है। यह मानवीय कार्यों से स्वतंत्र है। और प्रत्यभिज्ञा का केवल मात्र कारण है।[118]

अज्ञान और मल –

शैव दर्शन में अज्ञान को बन्ध का कारण माना गया है।[119] परन्तु अज्ञान का तात्पर्य पूर्ण रूप से ज्ञान का अभाव नहीं है क्योंकि यह स्थिति केवल जड़ पदार्थों में ही होती है।[120] इसका तात्पर्य जीव-ज्ञान की अपूर्णता से है जिसका कारण मल-संचय है। मल स्वातन्त्र्य शक्ति द्वारा प्रस्फुटित होता है।[121] और यह जीव के वास्तविक स्वरूप को छिपा लेता है। और अनन्त जीवों की सृष्टि होती है।[122] मल तीन प्रकार का है – इस विषय में डा० सेन विवेचन करते हुए लिखते हैं कि -

The Anava mala is said to be the fundamental mala (Mula-mala) which is associated with the very being (Satta) of every individual being. It is said to be substratum for the existence of the other two kinds of malas x x x x x. Mayiya mala results in the obscuration of Cidanus true nature x x x x the associated Karma bija is regarded as being of the nature of veil and is technically called the Karma mala. The Karma Mala is thus the root cause of the conjuction.[123]

ज्ञान का स्वरूप एवं उपाय –

सत्ता का ज्ञान जो कि आध्यात्मिक है, सभी बन्धनों से मुक्त है। वह मुक्ति का साधन भी है और उपाय रूप भी है।[124]

आणवोपाय –

अणुषुभेदिषूपायेषु भवः आणवः" उच्चार या उच्चारण जो प्राणापानादि पञ्चक एवम् मुख्य प्राणस्वरूप है, करण ध्यान, वर्ण की कल्पनाओं यानि भेदों से युक्त समावेश आणवोपाय कहा जाता है।[125] पूर्वोक्त भेदप्रथामयी कल्पनाओं से कल्पित, उच्चारादिबर्हिभूत अर्थ का साधन होने से इसे क्रियोपाय भी कहा जाता है।

शाक्तोपाय –

तंत्रालोक में कहा गया है कि - "भेदाभेदो हि शक्तिता।[126] शाक्तोपाय बाह्य उच्चार, करण, ध्यान, वर्ण और स्थान की कल्पना न होने से अभेदावस्था है और चित्त से इनका चिन्तन होने के कारण विकल्पात्मक रूप भेद भी सम्भव है अतः उभयतः स्वीकार किया गया है। यही शाक्त समावेश या उपाय है।[127] इसे ज्ञानोमय इसलियें कहते हैं क्योंकि जब योगी

"आत्मेवेदं सर्वम्" इस प्रकार का चिन्तन करता है तो इसमें आत्मा और अनात्मा रूप दो विकल्पांश विद्यमान रहते हैं और क्रमशः ऐसा अभ्यास करने पर अभेद परामर्श की प्राप्ति होती है। और पूर्वोक्त विकल्प निर्विकल्प हो जाता है। यही ज्ञान है।

शाम्भवोपाय –

शाम्भव समावेश में चिन्तन का भी त्याग कर दिया जाता है। विकल्प की कोई उपयोगिता नहीं रह जाती। श्रेष्ठ गुरू द्वारा प्रदत्त ज्ञेय-पारमार्थिक चिदात्मा रूप अवश्य ज्ञातव्य बोध से विकल्प विगलित हो जाता है और तब भावनादि की अपेक्षा न करने वाली अविकल्प रूप संवित् शिव के साथ तादात्म्य लाभ करती है। यही शाम्भव समावेश है।[128]

अनुपाय –

अनुपाय पूर्णतया अनुग्रह के मार्ग पर आधारित है, गुरू अर्थात् अनुग्रह शक्ति से सकृत् उपदेश द्वारा स्वप्रकाश का उन्मीलन हो जाता है।[129]

मोक्ष –

इस प्रकार कहा जा सकता है जहां पर पूर्ण शुद्धचित्त का साक्षात्कार हो जाता है' [130] वह परा संवित् और पराचेतना का स्वानुभव है।[131] जो उसी के अधीन है और वह इस अनुग्रह के करने में स्वतंत्र है।

स्वातन्त्र्य और आभास –

स्वातन्त्र्य ही परमेश्वर की पराशक्ति है। यह शक्ति शिव से अभिन्न है। अतः परमात्मा की इच्छा का अनभिहत प्रसार उसका स्वातन्त्र्य है।[132] अति दुर्घटकारित्व परमात्मा का ऐश्वर्य है।[133] उसी स्वातन्त्र्य और ऐश्वर्य के कारण ही परम शिव का शिव, शक्ति और जगत् के रूप में आभासन होता है। इस आभासन में "आ" उपसर्ग में हम दोनों अर्थ ले सकते हैं। "आ" का अर्थ "समन्तात्" यानि समस्त रूप में भी प्रकाशन है और "आ" का अर्थ "ईषत्" यानि अल्प या संकुचित रूप में भासना भी हो सकता है। किन्तु सम्प्रदाय-क्रम में तो संकुचित रूप से प्रकाशन ही आभास है।[134] आचार्य अभिनवगुप्त ने प्रतिबिम्ब को आभास कहा है।[135] वस्तुतः परमशिव स्वगर्भ में सूक्ष्म रूप से स्थित विश्व को उल्लेख पूर्वक अवभासित करते हैं।[136] समस्त चेतन और जड़ आभासमय है। अपने स्वातन्त्र्य या प्रतिभा की महिमा से वे अनन्त ग्राह्यों या ग्राहकों के रूप में अवभासित होते हैं। अतः विश्व को असत् नहीं कहा जा सकता और इस आभासन से उनकी पूर्णता में कोई क्षति नहीं होती।[137] अभिनव गुप्त का कथन है कि सृष्टि या क्षोभ दशा में, जिसके अन्तर्गत बाह्य आभासात्मक यह विश्व

आभासित होता है तथा क्षोभ के क्षीण हो जाने पर अनुत्तरात्मक स्थिति में वर्तमान उस अखण्ड स्वात्मसंवित्तिरूप देवी की मैं वंदना करता हूं।[138]

– सन्दर्भ –

1. तैत्तिरीय आरण्यक, 10-16
2. श्वेताश्वर उपनिषद् 3-11
3. यस्मादेतद्व्रतमिदं पाशुपतं यद् भस्माङ्गानि संस्पृशेत्तस्माद् ब्रह्म तदेतत्पाशुपतं पशुपाशविमोक्षणाय। अथर्वशिरोपनिषत्, मंत्र - 5
4. वामन पुराण 6-86-91
5. भारतीयदर्शन, पृ० 455, बलदेव उपाध्याय
6. "सूत्रं वृत्तिविवृत्तिर्लध्वी वृहतीत्युभे विमर्शिन्यौ। प्रकरण विवरण पंचकमिति शास्त्रं प्रत्यभिज्ञायाः। सर्वदर्शन संग्रह, पृ० 346, टिप्पणी पृ० 62 पर
7. संस्कृतहिन्दीकोश
8. "सप्रत्यभिज्ञामिव मामवलोक्य"-मातंग लीला, 1-25
9. संस्कृतहिन्दीकोश
10. "प्रत्यभिज्ञानरत्नं च रामायादर्शयत्कृती" -- रघुवंश, 12-6
11. इन्द्रियसहकृतसंस्कारजन्यज्ञानत्वम्। न्यायसिद्धांतदीपिका, पृ० 59
12. अतीतावस्थावच्छिन्नस्य वर्तमानभेदावगाहि प्रत्यक्षज्ञानं प्रत्यभिज्ञानम्। न्यायदर्शन, पृ० 41
13. स एवायमिति ज्ञानं प्रत्यभिज्ञेति कीर्त्यते। मानमेय रहस्य, श्लोक 42
14. अतीतकालवानर्थः तुदुबुद्धाववभासते।
    प्रत्यभिज्ञाप्रमाणेन वस्तूनां स्थैर्यमिष्यते।। वही, पृ० 338
15. प्रत्यभिज्ञात्विन्द्रियेण जन्यं संस्कारसाह्यतः।
    अयमेकत्वसिद्धान्तः द्वित्वसिद्धान्त उच्यते।
    ज्ञानद्वयं प्रत्यभिज्ञा स्मरणानुभवात्मकम्।। वही, पृ० 338
16. तस्माद्विरूद्धसंसृष्ट विषय प्रत्यभिज्ञया।
    स्थिरत्वं सर्ववस्तूनां सर्वेषामपि चात्मानाम्। वही, पृ० 310-311
17. ब्रह्मसूत्र, 1-3-28
18. क) अतीतावस्थावच्छिन्नवस्तुग्रहणम् प्रत्यभिज्ञाप्रत्यक्षे हि अतीतापि पूर्वावस्था स्फुटत्येव। तर्कभाषा, पृ० 19

    ख) प्रत्यभिज्ञायामुपनीततत्तादिविषयकत्वरूपमुपनीतभानमानुभाविकम् इति बोध्यम्।" दे० दीधिति, रघुनाथ शिरोमणि।

    ग) "प्रत्यभिज्ञायामात्मा विषयः इति सिद्धान्तः। मायावादिनस्तु अन्तःकरणविशिष्टएवात्मा प्रत्यभिज्ञायां विषयत्वेनाश्रयोऽनात्मा सिद्ध्यति। किं तर्हि सोऽयं घटः इत्यादि प्रत्यभिज्ञाश्रयत्वेन इत्यमन्यंत"। विवरण-प्रमेय-संग्रह

घ) सा च यथा स एवायं घटः यो मया पूर्वमुपलब्धः इत्याकारिका पूर्वावस्थानु ---- भवजनित संस्कार सहकृतेन्द्रिय प्रभवा प्रत्यभिज्ञा। वही, पृ० 50

ङ) "यथा स एवायं चैत्र इति प्रतिसन्धानेनाभिमुखीभूते वस्तुनि ज्ञानम् प्रत्यभिज्ञानम्। ईश्वर प्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी, 1-1-1, पृ० 20

च) अत्र तद्देशकालवृत्तित्वरूपतत्तासंस्कारात् स एवायं घटः इति प्रत्यभिज्ञा जायते इति बोध्यम्। वही, पृ० 14

छ) "तदनुग्रहीतस्तदनुसंधानविषयः प्रत्ययस्तद्भावविषयकं प्रत्यभिज्ञानम्।" न्यायवार्तिक, उद्योतकर।

19. सन्निहितविषयं च प्रत्यभिज्ञानम्। ब्रह्मसूत्र, अध्यासभाष्य (भामती)

20. उन्मीलनम् अवस्थितस्यैव प्रकटीकरणम्। प्रत्यभिज्ञाहृदयम्, सूत्र 2 पर टीका

21. ईश्वर प्रत्यभिज्ञा विमर्शिनी, 1-1-1, पृ० 20

22. प्रतीपमात्माभिमुख्येन ज्ञानं प्रकाशः प्रत्यभिज्ञा प्रतीपमिति स्वात्मावभासो हि न अननुभूतपूर्वोऽविच्छिन्नप्रकाशत्वात् तस्य, स तु तच्छक्त्यैव विच्छिन्न इव विकल्पित इव लक्ष्यते इति वक्ष्यते। प्रत्यभिज्ञा च भातभासमानरूपानुसन्धानात्मिका" स एवायं चैत्र" इति प्रतिसंधानेन अभिमुखीभूते वस्तुनि ज्ञानम्। लोकेऽपि एतत्पुत्र एवंगुण एवंरूपक इत्येवं वा, अन्ततोऽपि सामान्यात्मना वा ज्ञातस्य पुनरभिमुखीभावावसरे------ तत् प्रतिसंधानेन ज्ञानमुदेति --" नूनं स एव ईश्वरोऽहमति। वही० पृ० 20-21

23. स्मरणानुभवारूढ़ा सामानाधिकरण्यधीः।
संस्कारेन्द्रियजन्या च प्रत्यभिज्ञा प्रकीर्तिता।। पाद टिप्पणी में वही०, पृ० 20 पर भास्कर कण्ठ की उक्ति।

24. नैषधीयचरितम् , सर्ग 1 से 5 तक का कथानक

25. वही०, सर्ग 5 से 13 तक का कथानक

26. पातंजल योग, 1-32 पर व्यास-भाष्य

27. शिव दृष्टि, 1-12

28. वही०, पृ० 49, पाद-टिप्पणी

29. नर्तक आत्मा। शिव-सूत्राणि 3-9

30. रम्याणि वीक्ष्य मधुरांश्च निशम्य शब्दान्पर्युत्सकी भवति यत्सुखितोऽपि जन्तुः। तच्चेतसा स्मरति नूनमबोधपूर्वं भावान्तराणि जननान्तर-सौहृदानि।। अभिज्ञान-शाकुन्तलम्, 5-2

31. "व्यतिषजति पदार्थानान्तरः कोऽपि हेतु न खलु बहिरूपाधीन्प्रीतयः संश्रयन्ते" उत्तररामचरितम्, 6-12, यो यस्यान्तरतम् स तस्यस्थाने यथास्यात् .... तद् यथा समाजेषु समाशेषु समवायेषु चास्यतामित्युक्ते नैवकृशाः कृशैः सहासते न पाण्डवः पाण्डुभिः। येषामेव किंचिदर्थकृतमान्तर्यं तैरेव सहासते। तथा गावो दिवसं चरितवत्यः यो यस्याः प्रसवो भवति तेन सह शेरते। पातंजल महाभाष्य, सूत्र 1-1-50 'स्थानेऽन्तरतमः'

33. जायतेऽस्तिविपरिणमते वर्धतेऽपक्षीयते विनश्यति।" निरुक्त, 1-1-3

34. क) धात्वर्थो भावना सैवोत्पादना सैव च क्रिया" वही०
ख) यावत्सिद्धमसिद्धं च साध्यत्वेनाभिधीयते

आश्रितक्रमरूपत्वात्सा क्रियेत्यभिधीयते।। वही०, पृ० - 4

ग) भावः साध्यावस्थापन्नो धात्वर्थ आख्यातपद्वाच्यः । वही०, पृ० 5

घ) साध्यत्वं च क्रियान्तराकांक्षानुत्थापकतावच्छेदको धर्मः। वही०, पृ० 4

35. "क्रिया-भेदाय कालस्तु संख्या सर्वस्य भेदिका।" वाक्यपदीय, 1-10-11

36. अष्टाध्यायी, 3-3-100

37. एवं भूतमिदं वस्तु भवत्विति यदा पुनः।
जाता तदैव सत्तद्वत् कुर्वत्यत्र क्रियोच्यते।। स्वच्छन्द-तंत्र, 8-15

38. ज्ञानशक्तिः स्मृतो ब्रह्मा क्रियाशक्तिर्जनार्दनः।
इच्छाशक्तिः परोरुद्रः स शिवः परिगीयते।
विष्णुः सदाशिवो देवो ब्रह्मा चैवेश्वरस्तथा।। वही०, 11-52, 53

39. तस्मात्सदाशिवोदेवो व्यक्तो वै दृक् क्रियात्मकः।। वही०, 11-8

40. मूर्तिवैचित्र्यतो देशक्रममाभासयत्यसौ।
क्रियावैचित्र्यनिर्भासात्कालक्रममपीश्वरः।। ईश्वरप्रत्यभिज्ञाकारिका, 2-1-5

41. "ऊर्ध्वमुन्मनसो यच्च तत्र कालो न विद्यते"। स्वछन्द तंत्र, 11-311

42. तस्यादौ यादृशं रूपं कल्पान्ते चैव तादृशम्।। वही, 11-31, 33

43. अकामस्य क्रिया नास्ति निष्क्रियश्च सृजेत्कथम्। वही, 11-316

44. चिद्वपुषः स्वतंत्रस्य विश्वात्मन कर्तुमिच्छैव जगत्प्रतिकारणता कर्तृतारूपा सैव क्रियाशक्तिः। प्रत्यभिज्ञाकारिका (वृत्ति, 2-53)

45. प्रमातुरन्तःस्थितस्यात्मनो बहिष्कार एव क्रमानुगताक्रियेति परस्पराविरहिते तस्य ज्ञानक्रिये।। वही, 3-1

46. एतत्परं त्रिकं पूर्व सर्वशक्त्यविभागवत्। तदिच्छा तावती ज्ञानं तावत्तावत् क्रिया ही सा। सुसूक्ष्म शक्तित्रितय सामरस्येन वर्तते। मालिनी विजय वार्तिक, 1-20, 23

47. तथा च शक्तिपंचकमपि तदानीमेकरूपमपि व्यवहारापेक्षया कार्यसंभवादस्त्येव। ---- इच्छाज्ञानक्रियास्तु भिन्नविषयाद्यपेक्षया स्फुटीभवन्ति। --- तदैव ज्ञानं संरम्भरूपत्वात्सैव क्रिया तत्स्वभावत्वेन तदभ्युपगमादिच्छति स्थितैव।" शिव-दृष्टि, 1-4

48. भासना च क्रियाशक्तिरिति शास्त्रेषु कथ्यते।
यथा विचित्र तत्त्वादिकलना प्रविभज्यते।।
वैचित्र्यभासनैवेयं कालशक्तिरुदाहृता।। मालिनी विजय कार्तिक, 1-90, 100

49. ततस्तदनुसारेण सर्वोऽपं कल्पनाक्रमः। वही०, 1-97

50. एतदेव स्वातन्त्र्यं यदतिदुर्घटकारित्वम्। स्वातन्त्र्यं च नाम यथेच्छं तत्रेच्छाप्रसरस्याविघातः" ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृत्तिविमर्शिनी, 1-1, पृ० 82, पृ० 107

51. यदा स्वतंत्रता लुप्ता सा क्रिया करणरूपिणी।
वर्णरूपाष्टभेदेन स्फोटादिवर्णरूपिणी।। x x x
क्रियाख्या परमा सा तु सर्ववाङ्मयरूपिणी।। नेत्रतंत्र, 21-37, 38

52. सक्रमत्वं च लौकिक्याः क्रियायाः कालशक्तितः। प्रत्यभिज्ञाकारिका, 2-1-2

53. "उत्पत्तिस्थितिलयलक्षणस्त्रिविधः।" सप्त-पदार्थी

54. जन्यानां जनकः कालः जगतामाश्रयो मतः। भाषा-परिच्छेद, 1-45

55. द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायाभावाः सप्तपदार्थाः। तर्कसंग्रह

56. पृथिवीजलतेजवाय्वाकाशकालदिगात्ममनासि नवैव। वही०

57. न ही कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः। गीता, 3-5

58. प्रह्लादश्चास्मि दैत्यानां कालः कलयतामहम्।
मृगाणां च मृगेन्द्रोऽहं वैनतेयश्च पक्षिणाम्।। वही, 10-30

59. अहमेवाक्षयः कालो धाताहं विश्वतोमुखः। वही०, 10-33

60. वही, 11-32

61. कालः क्रियाशक्त्युपहितः सर्वस्य संहर्ता। वही०, 11-32 मधूसूदनी टीका

62. "क्रियाप्रसंगायातः कालशक्तिविचारः इति कालक्रमाभिप्रायेण सूत्रवृत्ती नीते।" ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी, 2-1-4

63. वही, 2-1-5

64. ज्ञानेऽपि वेद्यांशे एव कालः। न स्वरूपसंवेदनांशे, न च विमर्शरूपशब्दनांशे। वही०

65. ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृत्तिविमर्शिनी, 3-1-1

66. योगो नान्यः क्रिया नान्या तत्त्वारूढ़ा हि या मतिः।।
स्वचित्तवासनाशान्तौ सा क्रियेत्यमिधीयते।।
तस्मात्क्रियापि या नाम ज्ञानमेव हि सा ततः।।" वही०, पृ० 259

67. एवमन्तबहिवृत्तिः क्रिया कालक्रमानुगा।
मातुरेवतदन्योन्यावियुक्ते ज्ञानकर्मणी।। ईश्वरप्रत्यभिज्ञाकारिका, 3-1-1

68. तदास्याकृत्रिमो धर्मो ज्ञत्वकर्तृत्वलक्षणः।
यतस्तदीप्सितं सर्वं जानाति च करोति च।। स्पन्दकारिका, 1-10

69. वस्तुतः एकैव ईश्वरस्य स्वभावप्रत्यवमर्शरूपाशक्तिः। सा संवेदनरूपत्वात् ज्ञानशब्देन उच्यते, तावन्मात्रसंरंभरूपत्वात् क्रियाशब्देन च उद्घोष्यते। --- वही

70. अवस्थायुगलं चात्र कार्यकर्तृत्वशब्दितम्।
कार्यता क्षयिणी तत्र कर्तृत्वं पुनरक्षयम्। वही, 1-14

71. सेयं क्रियात्मिका शक्तिः शिवस्यपशुवर्तिनी।
बन्धयित्री स्वमार्गस्था ज्ञाता सिद्ध्युपपादिका।। वही, 3-48

72. शक्तोद्युक्तः प्रवृत्तश्च कर्ता त्रिविध उच्यते।
शक्तेः प्रवृत्तिभेदेन भेदस्तस्योपचारतः।। शैव-परिभाषा, पृ० 32

73. तत्र करणापेक्षकर्तृत्वं कुलालादीनाम्। तत्र मनोव्यापारेण कर्तृत्वं ब्रह्मादीनाम्।
शिवस्य तु सन्निधिमात्रेण। वही, पृ० 33

74. तस्मात्प्रथमसृष्टौ समस्तोपाधिवर्जितः प्रवृत्ताशेषशक्तिकः शिव एव कर्ता अभ्युपेयः। तस्य च पंचविधकृत्येषु सूर्यस्य कमलोत्पल-नवनीत पंकसंबन्धिषु विकासमुकुलीभाव द्रवीकरणशोषणरूप कार्येष्विव सन्निधिमात्रेण कर्तृत्वम्। वही०, पृ० 34

75. छान्दोग्य उपनिषद् 6-2-3

76. ऐतरेयोपनिषद् 1-1
77. वही०
78. अदेहस्यापि कर्तृत्वं स्वदेहप्रेरणे यथा। सदेहस्यापि कर्तृत्वं सर्वत्रापि यदीष्यते।। (पौष्करागम में से उद्धृत) शैव परिभाषा, पृ० 34
79. आरम्भौ निष्कृतिः शिक्षा पूजनं संप्रधारणम्। उपायः कर्म चेष्टा च चिकित्सा च नव क्रियाः। अमर कोष (नानार्थवर्ग) काण्ड-3
80. स्वस्मिन् कार्येऽथ धर्मौघे यद्वापि स्वसदृग्गुणे।
आस्ते सामान्यकल्पेन तननाद् व्याप्तृभावतः।।
तत् तत्त्वं क्रमशः पृथिवी प्रधानं पुंशिवादयः।। तंत्रालोक 9-4, 5
81. शाक्त-दर्शन, पृ० 88
82. तत्स्वातन्त्र्यरसात्पुनः शिवपदाद् भेदे विभाते परम्।
यद्रूपं बहुधानुगामि तदिदं तत्त्वं विभोः शासने।। तंत्रालोक, 9-2
83. यदयमनुत्तरमूर्तिनिजेच्छयाऽखिलमिदं जगत्स्त्रष्टुम्।
पस्पन्दे स स्पन्दः प्रथमः शिवतत्त्वमुच्यते तज्ज्ञैः।। षट्त्रिंशतत्त्वसन्दोह, श्लोक-1
84. मायान्तमात्मतत्त्वं विद्यातत्त्वं सदाशिवान्तं स्यात्।
शक्तिशिवौशिवतत्त्वं तुरीयतत्त्वं समष्टिरेतेषाम्।। सेतुबन्ध, (शाक्त दर्शन के पृ० 89 पर उद्धृत)
85. परशुरामकल्पसूत्रोदितं षट्त्रिशंत्तत्त्वविवरणमेतत्। षट्त्रिंशतत्त्वसन्दोह 1-4
86. भारतीय दर्शन, पृ० 477, बलदेव उपाध्याय
87. विमर्शो नाम विश्वाकारेण विश्वप्रकाशेन विश्वसंहारेण च अकृत्रिमाऽहमिति स्फुरणम्।" कामकलाविलास, पृ० 2
88. शिवः शक्त्या युक्तो यदि भवति शक्तः प्रभवितुम्।
नचेदेवं देवो न खलु कुशलः स्पन्दितुमपि। सौन्दर्यलहरी, श्लोक-1
89. सा जयति शक्तिराद्या निजसुखमयनित्यरूपमाकारा।
भाविचराचरबीजं शिवरूपविमर्शानिर्मलादर्शः।। कामकलाविलास, 2
90. न शिवेन विना देवी न देव्या, च विना शिवः।
नानयोरंतरं किंचिच् चन्द्रचन्द्रिकयोरिव। मातृकाचक्र विवेक,
91. न शिवः शक्तिरहितो न शक्तिर्व्यतिरेकिणी।
शिवः शक्तस्तथा भावान् इच्छया कर्तुमीहते।।
शक्तिशक्तिमतोर्भेदः शैवे जातु न वर्ण्यते।। शिवदृष्टि, 3-2-3
92. "ईश्वरो बहिरून्मेषो निमेषोऽन्तः सदाशिवः।"
ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी, 3-1-3, पृ० 265
93. अहन्ताच्छादित-अस्फुटेदन्तामयं यादृशं परा ररूपं विश्वं ग्राह्यम्। प्रत्यभिज्ञाहृदयम्, पृ० 7
94. "सादाख्यं सादाख्यायां भवं ---- यतः प्रभृति सदितिप्रख्या।" ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी, 3-1-2, पृ० 264
95. "तस्य प्रथमसृष्टावस्माकमन्तःकरणैकवेद्यमिव यामलप्रायमुन्मीलितचित्रमालकल्पं **यद् भावचक्रं** तस्य चैतन्यवर्गस्य तादृशि भावराशौ तथा प्रथनंन यच्चिद्विशैषत्वं तत्सदा**शिवतत्त्वम्**। ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी, पृ० 2-264

96. बहिर्भावपरत्वे तु परतः पारमेश्वरम्। वहीo 3-1-2
97. समानाधिकरण्यं च सद्विद्याहमिदंधियोः। वहीo, 3-1-3
98. कलादीर्ना तत्त्वानामविवेको माया। शिव-सूत्र, 3-3
99. माया च नाम देवस्य शक्ति व्यतिरेकिणी।
भेदावभासस्वातन्त्र्य तथाहि स तया कृतः।। तंत्रालोक, 8-149
100. मायायाः पंच उपाधयः कंचुका वा।
अविद्या, कला, रागः, कालः, नियतिश्चेति।। शाक्तदर्शनम्, पृo 94
101. ईश्वरस्यानन्तशक्तिमाच्छादयितुमावरणं कंचुकः।'' वहीo
102. तत्सर्वकर्तृता सा संकुचिता कतिपयार्थपरा।
किंचित्कर्तारममुं कलयन्ती कीर्त्यते कला नाम।। षट्त्रिंशतत्त्व सन्दोह, 8
103. सर्वज्ञताशक्तिपरिमिततनुरल्पवेद्यमात्र परा।
ज्ञानमुत्पादयन्ती विद्येति निगद्यते बुधैराद्यैः।। वहीo ९
104. क) किंचित्तु कुरुते तस्मान्नूनमस्त्यपरं तु तत्।
रागतत्त्वमिति प्रोक्तं यत्तत्रैवोपरंजकम्।। तंत्रालोक, 9-199
ख) नित्यपरिपूर्णतृप्तिः शक्तिः तस्यैव परिमिता सती।
भोगेषु रंजयन्ती सततंममुं रागतत्त्वतां याता।। षट्त्रिंशतत्त्वसन्दोह, 10
105. सा नित्यतास्य शक्तिर्निकृष्य निधनोदयप्रदानेन।
नियत परिच्छेदकरी क्लृप्ता स्यात्कालतत्त्वरूपेण। वहीo 11
106. "नियति योजनां धत्ते विशिष्टे कार्यमण्डले।
यास्य स्वतंत्रतापाख्याशक्तिः संकोचशालिनी सैव।।
कृत्याकृत्येष्ववशं नियतममुं नियमयन्त्यभून्नियतिः।। वहीo 12
107. मायाजनित पूर्वोक्त नियति-काल-राग-कला विद्येति-पंचविध कंचुकस्याश्रयस्वरूपं तत्त्वं जीवः पुरुषो वेत्यभिहितः।। शाक्तदर्शन, पृo 97
108. सत्वरजस्तमोगुणानां साम्यारूपा प्रकृतिः। वहीo पृo 97
109. "बुद्धिर्निश्चयज्ञानता हेतुः।" वहीo, पृo 97
110. "तमोगणप्रधानान्तःकरणस्य नाम अंहकार इति।" वही, पृo 97
111. रजोगुणप्रधानान्तःकरणं "मनो" नाम। मनः संकल्पहेतुः। वही, पृo 97
112. शब्दग्राहकमिन्द्रियं "श्रोत्रम्" । स्पर्शग्राहकमिन्द्रियं "त्वक्"। रूपग्राहकमिन्द्रियं "चक्षु"। रसग्राहकमिन्द्रियं "रसनं"। गन्धग्राहकमिन्द्रियं घ्राणम्। वही, पृo 98
113. व्यक्तो "वागुच्चारणानूकूलमिन्द्रियं वाक्। ग्रहणत्यागानुकूलमिन्द्रियं पाणिः। गमनानुकूलमिन्द्रियं "पादः"। मलविसर्जकमिन्द्रियं "पायुः" मैथुनजनकमिन्द्रियमुपस्थः।" वही, पृo 98
114. सूक्ष्माकाशरूपं श्रवणेन्द्रिग्राह्यं "शब्द"। सूक्ष्मवायुरूपं त्वगिन्द्रियग्राह्यं "स्पर्शः"। सूक्ष्मतेजोरूपं चक्षुरिन्द्रिग्राहयं "रूपम्" सूक्ष्मजलरूपं रसः। सूक्ष्म पृथिवीरूपं गन्ध इति। वही, पृo 99
115. अवकाशात्मकमाकाश - इति। सदागतिमत्वात्मकगुणवद् वायुः", उष्णताशक्त्यात्मकं "तेजः"। द्रव्यत्ववत्वात्मकं "जलमिति" काठन्यगुणवत्वात्मकं" पृथिवी" इति। वहीo, पृo 99
116. दीयते ज्ञान सद्भावः क्षीयते पशुबन्धनम्।

दानक्षपणसंयुक्ता दीक्षा तेनेह कीर्तिता। तंत्रालोक, 1-80 (काश्मीर सीरीज)

117. इत्थं श्री शक्तिपातोयं निरपेक्ष इहोदितः। वही, 13-283 (मोती लाल)

118. स्वातन्त्र्यमहिमैवायं देवस्य यदसौ पुनः।
स्वं रूपं परिशुद्धं सत्स्पृशत्यप्यणुतामयः। वही, 13-105 (मोती लाल)

119. अज्ञानं किल बन्ध हेतुरुदितः शास्त्रे मलं तत्स्मृतम्। तंत्रसार, 5

120. अज्ञानमिति न ज्ञानाभावश्चातिप्रसंगतः।
स हि लोष्ठादिकेप्यस्ति न च तस्यास्ति संसृतिः।। तंत्रालोक, 1-58, (काश्मीर सीरीज)

121. यथैवाव्यतिरिक्तस्य धरादेर्भावितात्मता।
तथैवास्येति शास्त्रेषु व्यतिरिक्तः स्थितोमलः। वही०, 9-66, 67 (मोती लाल)

122. "अथानादिर्मलः पुंसां पशुत्वं परिकीर्तितम्।
ईश्वरेच्छावशक्षुब्ध भोगलोलिक चिद्गुणान्।
सविभङ्क्तुमघोरेशः सृजतीह निरंतरम्। वही०, पृ० 61, 60 (मोती लाल)

123. The Philosophy of Sadhana, Page 49-5

124. यत्तु ज्ञेयसतत्त्वस्य ज्ञानं सर्वात्मनोज्झितम्।
अवच्छेदेन तत्कुत्राप्यज्ञानं सत्यमुक्तिदम्। तंत्रालोक, 1-72 (काश्मीर सीरीज)

125. उच्चारकरणध्यानवर्णस्थानप्रकल्पनैः।
यो भवेत् स समावेशः सम्यागणव उच्यते। वही० 1-170 (मोती लाल)

126. वही०, 1-220 (मोती लाल)

127. उच्चाररहितं वस्तु चेतसैव विचिन्तयेत्।
यः समावेशमाप्नोति शाक्तः सोऽत्राभिधीयते। वही० 1-169, (मोती लाल)

128. अकिंचिच्चिन्तकस्यैव गुरुणा प्रतिबोधतः।
उत्पद्यते च आवेशः शाम्भवोऽसावुदीरितः।। वही० 1-168 (मोती लाल)

129. साक्षादुपायेन इति शांभवेन। तदेव हि अव्यवहितं परज्ञानावाप्तौ निमित्तं, स एव परा काष्ठां प्राप्तश्चानुपायः।। वही० 1-142 (टीका, मोती लाल)

130. स्वतंत्रात्मातिरिक्तस्तु तुच्छोऽतुच्छोऽपि कश्चन।
न मोक्षो नाम तन्नास्य पृथङ्नामापि गृह्यते। वही० 1-31 (मोती लाल)

131. मोक्षो हि नाम नैवान्यः स्वरूपप्रथनं हि सः"।
स्वरूपं चात्मनः संवित् नान्यत्। वही० 1-15 (मोती लाल)

132. स्वातन्त्र्यं च नाम यथेछं तत्रेच्छाप्रसरस्य अविघातः।
ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृत्तिविमर्शिनी, 1-1, पृ० 82

133. एतदेव हि स्वातन्त्र्यं यदतिदुर्घटकारित्वम्। वही०, पृ० 107

134. आ ईषत् संकोचेन भासनं प्रकाशनम्। वही०, 2-2

135. भासनसारतैव हि प्रतिबिम्बता इह अवभासनसारमेव प्रतिबिम्बितत्त्वम्।
प्रत्यभिज्ञा हृदय भूमिका में उद्धृत।

136. उल्लेखनं मनसि कल्पनम्। अवभासनं विकल्पघनीभावेन स्फुरणम्। भास्करी, पृ० 342

137. इदं विश्वं एकस्यां वा परस्यां पारमेश्वर्यां भैरवसंविदि अविभागेन बोधात्मकेन रूपेणास्ते।"

वर्तमानावभासानां भावानाभवभ्गसनम्। अन्तः स्थितवतामेव घटते बहिरात्मना।
ईश्वरप्रत्यभिज्ञाकारिका, 1-132

138. यस्यामन्तर्विश्वमेतद्विभाति वाह्याभासं भासमानं विसृष्टौ।
क्षोभे क्षीणेऽनुत्तरायां स्थितौ तां वन्दे देवीं स्वात्मसंवित्तिमेकाम्।
प्रत्यभिज्ञा हृदय (भूमिका, पृ० 30)

तृतीय उन्मेष

प्रत्यभिज्ञा एवम् प्रतिभा : एक सामान्य परिचय

प्रस्तुत ग्रन्थ का सम्बंध प्रत्यभिज्ञा दृष्टि एवम् प्रतिभा के स्वरूप निरूपण से है। काश्मीरी शैवदर्शन में प्रत्यभिज्ञा और प्रतिभा इन दोनो शब्दों का व्यापक प्रयोग भी मिलता है। तत्सम्बंधी विचार भी जहां तहां मिलता रहता है। इन प्रयोगों और विचारों में कहीं वैदिकों, कही पौराणिकों, कहीं तांत्रिकों, वैय्याकरणों, दार्शनिकों, महाकवियों एवम् आगमों के भिन्न-भिन्न तत्त्वसाक्षात्कारों, रचनात्मिका, नवनवोन्मेष-शालिनी वागादि शक्तियों का समन्वय एवम् सामरस्य मिलता है। अतः प्रतिभा का प्रत्यभिज्ञा-आगम में विश्लेषण करने से पूर्व मैं प्रथम खंड में उन सभी दृष्टियों का विशेष रूप से त्रिपुरा दृष्टि का जिसका कि शैवागम से प्रायः एकरूप सम्बन्ध ही है आंशिक पर्यालोचन करना चाहूंगा क्यों कि वहां प्रतिभा शब्द का तत्प्रकारक प्रयोग न मिलने पर भी प्रातिभ-दर्शन के परोक्ष एवम् अंशतः प्रत्यक्ष बीज, वहां सभी जगह, कवि, ऋषि, दार्शनिक के उद्‌भव और विकास के साथ ही मिलने शुरू हो जाते हैं। मेरी धारणा है कि भारतीय चिन्तन की अन्तर्निहित इसी दृष्टि के कारण आज तक भी हमारे यहां के कवि, दार्शनिक, कलाकार, संगीतज्ञ, ज्योतिषि एवम् वैद्य आदि अपने अपने क्षेत्र में भिन्न-भिन्न प्रयोग करते हुए भी वाग्देवी, सरस्वती, भारती की उपासना के प्रश्न पर एकमत रहे। मेरे विचार में वाग्देवी या सरस्वती की विभिन्न शताब्दियों में पाई जाने वाली कलामूर्तियों या चित्र अथवा सरस्वती एवम् शारदा सम्बन्धी ध्यानश्लोक अथवा काव्यशास्त्रियों के ग्रन्थों में पाई जाने वाली ध्वनि एवम् व्यंजना एवम् रस सम्बन्धी उत्तमोत्तम रचनाएं सारस्वती प्रतिभा के भिन्न- भिन्न प्रकाशन्-विशेष हैं। तंत्र एवम् आगम ने इसी की वाग्ब्रह्म या शब्द ब्रह्म के रूप में उपासना करने पर बल दिया। काश्मीर शैव दर्शन एवम् त्रैपुरसिद्धांत को तो प्रतिभा-दर्शन की मूल उपनिषद् ही कहा जा सकता है।

प्रतिभा क्या है –

वैदिक साहित्य में मनस्तत्त्व की विभिन्न क्षमताओं का स्पष्ट रूप में उल्लेख यजुर्वेदान्तर्गत शिव-संकल्पसूक्त में किया गया है। एक मन वह जिस की गति जागते सोते में समान है और जो ज्योतियों की भी ज्योति है। एक मन, जो हमारे सारे कर्म-दर्शन का आधार होता हुआ प्रजाओं की चेतना का अन्तःसूत्र है। वह हमारा प्रज्ञान है, चेतस् है, धृति है। उसके बिना कुछ हो ही नहीं सकता। उसी में भूत और भविष्यत् वर्तमान की तरह हो उठते हैं। और वहीं सात होताओं वाले अग्निष्टोम यज्ञ की संपूर्ण योजना का द्रष्टा है। उसी में ऋचाओं का काव्य, साम का संगीत, यजु का यज्ञत्व प्रतिष्ठित है। घोड़ों का सा जिसका प्रखर वेग समस्त मननधर्मा मनुष्यों की गति और संयम का आधार है, उस सदायुवा, जविष्ठ और

हृत्प्रतिष्ठ मन को शिव का शुभ संकल्प बन जाना चाहिए। शैवागम की दृष्टि से शिव का संकल्प उसकी विमर्श शक्ति है। वही परा प्रतिभा के नाम से बोधित हुई है। उसी के विषय में त्रिपुरा-रहस्य में भगवती ने कहा है – "परा सा प्रतिभा देव्याः परं रूपं ममेरितम्।"[1]

वेद में जो धी, मनीषा, मेधा, प्रज्ञा आदि शब्द प्रयोग हुआ है उसमें से भी रचनात्मक उसी लोकालोकमयी अर्थ-प्रतिभा का पता चलता है। अथवा वाक्सूक्तों में जहां तहां भी "सा इमाः प्रजाः असृजत्"[2] आदि वाक्यों द्वारा वाक्तत्त्व का लोकोत्तर चमत्कारपूर्ण वर्णन आया है या "चत्वारि वाक्परिमिता पदानि"[3] में वैय्याकरणों की आगामी परा, पश्यन्ती, मध्यमा, वैखरी का बीजभूत दर्शन आया है वहां सर्वत्र प्रतिभा का ही भंग्यतर से वर्णन है। इसीलिए यह समझ लेना आवश्यक ही है कि पुराणकाल में प्रचलित प्रतिभा शब्द और सिद्धान्त वेदों के वाक्तत्त्व, सामतत्त्व और मेधातत्त्व का निष्कृष्ट सार है। रूपान्तर से जैनों, बौद्धों, शैवों, शाक्तों वैष्णवों, वैयाकरणों, नैयायिकों, वैशेषिकों, सांख्यवादियों, योगियों, मीमांसकों, वेदान्तियों और तांत्रिकों ने उसी का यथायोग्य उपयोग अपने-अपने दर्शन को परिनिष्पन्न करने में किया है।

वस्तुतः आर्षज्ञान में जिस सम्पूर्ण दृष्टि का परिस्फुरण हुआ था उसमें जीवन का संपूर्ण बहिरंग और अंतरंग अपनी सूक्ष्मताओं सहित प्रकाशित ही नहीं हो उठता था अपितु उसमें मधुमय आनन्द और गतिमय छन्द का स्वाभाविक समावेश भी था। श्रीअरविन्द "दी आइडियल स्पिरिट आफ पोएट्री" नामक अपने निबन्ध में कहते हैं –

What the Vedic poets meant by Mantra was an inspired and revealed seeing and visioned thinking attended by a realisation, to use the ponderous but necessary modern word of some inmost truth of God and self and man and nature and cosmos and life and thing and thought and experience and deed. It was a thinking that came on the wings of a great soul, rhythm, Chandas.[4]

कहना न होगा कि इस खोए हुए वैदिक छन्द या मधुमयी प्रतिभा के साक्षात्कार को पुनः प्राप्त करने के लिए ही विभिन्न शास्त्रों और भारतीय सम्प्रदायों ने अपनी-अपनी शाखा और संप्रदाय में विभिन्न साधना-पद्धतियों और मार्गों का अवलम्बन किया। उसी के फलस्वरूप वैदिकोत्तर काल में भी वाल्मीकि, व्यास और कालिदास जैसी महाप्रतिभाओं का इस देश में अवतरण होता रहा तथा अपौरुषेय एवम् दिव्यज्ञान की धारा चलती रही। सबके मूल में प्रतिष्ठित वेद का जो अतीन्द्रिय शब्दात्मक सूक्ष्म ज्ञान-विशेष था, उसी को प्राप्त कर विद्योपासक लोग चरितार्थ होते थे। "यां सूक्ष्मां नित्यामतीन्द्रियां वाचम् ऋषयः साक्षात्कृधर्माणो मन्त्रदृशः पश्यन्ति तामसाक्षात्कृतधर्मभ्यः परेभ्यः प्रतिवेदयिष्यमाणा बिल्मं

समामनन्ति स्वप्नवृत्तमिव दृष्टश्रुतानुभूतमाचिख्यासन्ते।[5] यह पुराकल्प में से उद्धृत वाक्यखंड सिद्ध करता है कि वैदिकों को परवर्ती शब्दब्रह्मवादियों की इस मूल धारणा कि "सूक्ष्मावाक् पुरुष-समवायिनी एवम् पुरुष की अमृता कला है"[6] – का ज्ञान बहुत पहले से विद्यमान था। तभी तो वेद के विषय में परवर्ती विद्वानों ने यह कहा होगा कि – स हि सर्वः शब्दार्थप्रकृतिः[7] अथवा "सर्वावाचो वेदमनुप्रविष्टाः नावेदविन्मनुते ब्रह्म किंचित्"।[8] अतएव वाणी ही सबका ज्ञान कराती है।[9] अतः सारा वेद शब्द और अर्थ प्रकृतिवाला है तथा वाणी के संपूर्ण भेद वेद में ही सिमट आते हैं, तथा वेद को न जानने वाला ब्रह्म को अंशतः भी नहीं जान सकता तो फिर शैवों की इस धारणा का कि "वेदः शिवः शिवो वेदः" (ऋग्विधान-2) का मूल हमें वेद में ही मिल जाता है। विशेष रूप से शैव प्रत्यभिज्ञा का प्रतिभा-सिद्धान्त उसी तरह वेदमूलक है जिस प्रकार अन्य आस्तिक षड्दर्शनों की वेदमूलकता प्रसिद्ध है। अतः वेदमूला समानता होने के नाते हम कुछ अन्य प्रमुख दर्शनों की प्रतिभा सम्बन्धी धारणा को भी विवेचन के लिए ले सकते हैं।

सबसे पहले हम देखते हैं कि प्रतिभा में जो वाक्तत्त्व और ज्ञान एवम् ज्ञप्ति का एकीभूत रूप था उसमें से नैयायिकों ने ज्ञानात्मकता के ऊपर ही सारा बल देकर प्रमा को अव्यभिचारिणी, असन्दिग्धा, अर्थोपलब्धि कहा, तो न्याय-कुसुमांजलिकार ने प्रमा के बोधक प्रमाण को शिव कहते हुए दूसरे मतों में अनास्था प्रकट की –

साक्षात्कारिणि नित्ययोगिनि परद्वारानपेक्षस्थितौ
भूतार्थानुभवे निविष्टनिखिलप्रस्ताविवस्तुक्रमः।
लेशादृष्टिनिमित्तदृष्टिविगमप्रभ्रष्टशंकातुषः
शंकोन्मेषकलंकिभिः किमपरैस्तन्मे प्रमाणं शिवः।[10]

प्रमा की शक्ति और प्रमाण को शिवरूप कहने के अतिरिक्त विश्वनाथ पंचानन जैसे मूर्धन्य नैयायिकों ने प्रत्यक्ष प्रमाण की व्याख्या में अलौकिक प्रत्यक्ष के तीन भेदों में से योगज प्रत्यक्ष को स्वीकार करते हुए प्रतिभा को ही प्रमा के रूप में स्वीकृति दी है।[11] "प्रतिगत अभिज्ञाम इति प्रत्यभिज्ञा"[12] अर्थात् जिस विषय का पहले साक्षात्कार हो चुका है उसका पुनः प्रत्यक्ष होने से इन्द्रिय और पूर्व-संस्कार दोनों के योग से प्रत्यभिज्ञा होती है। इसलिए नैयायिकों ने उसका लक्षण "इन्द्रियसहकृत संस्कारजन्यज्ञानत्वम्"[14] किया है। पर प्रत्यभिज्ञा केवल वर्तमान के संवेदन और अतीत की स्मृति का यदि मिश्रण सा बनकर इन्द्रियोत्थ ज्ञान तक ही रह जाए तो बात कुछ भी नहीं। अतः काश्मीर शैव ने इसी को आत्म की अर्थात् अपने शिवत्व की पहचान या खोये हुए जीवन-धन की पुनः प्राप्ति के साथ जोड़ा। इस प्रत्यभिज्ञा या पहचान में कितनी रमणीयता हो सकती है इसका उन्मेष कालिदास ने

मुद्राक्रम यानि अंगूठी या अंगूठे की पहचान अथवा अंग से अंगी की पहचान मात्र में ही नहीं, रसमय उपलब्धि में किया है। शैव कहते हैं कि पूर्वानुभूत ईश्वरात्मकतत्त्व के तत्त्व-शास्त्र, अनुमान एवम् साधना द्वारा वर्तमान में अभिमुख होने पर प्रतिसन्धान के बल से "वही ईश्वर मैं हूँ" ऐसी प्रत्यभिज्ञा ही लोकोत्तर प्रतिभा की उद्गमस्थली है। इसी का वर्णन ईश्वर-प्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी में देखिए -" प्रतीपमात्माभिमुख्येन ज्ञानं प्रकाशः प्रत्यभिज्ञा। सा च भातभासमानरूपानुसंधानात्मिका- "स एवायं चैत्र" इति प्रतिसन्धानेन अभिमुखीभूते वस्तुनि ज्ञानम्।[15] अतः वसुगुप्त के शिष्य सोमानन्द ने अपनी "शिवदृष्टि" में तथा उत्पलाचार्य ने प्रत्यभिज्ञाकारिका आदि शैवग्रन्थों में संविदामोदसंदर्भा प्रत्यभिज्ञा के रसमय रूप का उन्मीलन करके यह बता दिया कि भक्ति, कर्म या ज्ञान आदि के कोरे साधनों से नहीं अपितु उन्हीं के समन्वित अर्थ नवनवोन्मेषयुक्त प्रत्यभिज्ञान से ही हो सकता है जिसका आधार ब्रह्म के स्वरूप-लक्षण में से चित् और आनन्द अथवा ज्ञान एवम् प्रीति के समन्वय को ही माना जा सकता है। स्पन्दकारिका में कहा है -

इति वा यस्य संवित्ति क्रीडात्वेनाखिलं जगत्।
स पश्यन् सततं युक्तो जीवन्मुक्तो न संशयः।।[16]

व्याकरण -

जैसा कि पीछे कहा गया है कि प्रतिभा की छोटी-मोटी चर्चा तो प्रायः सभी आस्तिक नास्तिक दर्शनों में उपलब्ध हो जाती है किन्तु उसका सांगोपांग स्वरूप-निरूपण तो पातंजल-व्याकरण, पातंजल-योग, न्यायवैशेषिक एवम् शैवागम में ही हुआ लगता है। मूलतः ये सभी दर्शन केवल शैवी दृष्टि का ही उन्मेष हैं। इनके पाणिनि आदि प्रवर्तकों को प्रायः शैव ही स्वीकार किया जाता है। इन सभी ने मिलकर जो शिव का स्वरूप बनाया उसमें लगता है कि प्रतिभा तत्त्व को ही अमृता चन्द्रकला और तृतीय नेत्र के प्रतीक रूप में समझा दिया गया है। मस्तक में दहकती हुई असामान्य ज्ञानाग्नि का रस की अधिष्ठात्री अमृता चन्द्रकला में विकास अथवा यूं भी कह सकते हैं कि चित् या ज्ञान की आनन्दरूपता या रसरूपता में परिणति ही प्रतिभा का मूल है, अथवा शिव के तृतीय नेत्र की निरन्तर उठती ज्वाला की लौ से अक्षय चन्द्रकला का ज्वाला में नित्यक्षरण निरन्तर चल रहे अग्नि-सोम यज्ञ की रचनाधर्मिता का प्रतीक है। उसी से आज तक नव-नवीन सृष्टि होती चली आई है। अपनी बन्ध्या बुद्धियों को फलित करने के लिए श्रेष्ठ कवि और दार्शनिक उसी की उपासना करते आए हैं।

पाणिनि के चतुर्दश सूत्रों से लेकर पतंजलि के महाभाष्य में से होते हुए जब हम आगमाचार्य भर्तृहरि के शब्द-ब्रह्मवाद तक पहुंचते हैं तो पाते हैं कि प्रतिभा में समवेत दो तत्त्वों यानि वाक् और विद्यातत्त्व में से वैयाकरणों का बल या दबाव शब्द-ब्रह्म या परावाक्

पर अधिक बढ़ गया जिसे पाश्चात्य दार्शनिक Eternal Verbum कहते हैं। इसी परावाक् में से वाचक और वाच्यरूप उभय-मुखी जगत् का विकास हुआ और कहा गया है कि -

"शब्दजातमशेषं तु धत्ते शर्वस्य वल्लभा।
अर्थस्वरूपमलिखलं धत्ते मुग्धेन्दुशेखरः।[17]

यद्यपि "औत्पत्तिकस्तु शब्दस्यार्थेन सम्बंधः" इस नियम के अनुसार शब्द और अर्थ का नित्य सम्बन्ध मान लिया गया। यह भी मान लिया गया कि "स्वार्थ प्रतिपादनं हि स्वकार्यं शब्दानाम्",[19] तो भी अभिधेय की अपेक्षा अभिधान रूप शब्द तत्त्व एवम् अर्थों को स्फुटित करने वाले वाचक-स्फोट पर बल आ गया। कहा गया कि विश्व के सारे ज्ञान मात्र शब्द शक्ति पर आश्रित हैं। और यह शक्ति परावाक् के कुण्ड में से पश्यन्ती के रूप में अंकुरित होकर मध्यमा में नादात्मिका होकर वैखरी में वर्णरूपा हो गई है –

वैखरी शब्द निष्पत्तिर्मध्यमा श्रुतिगोचरा
उद्यतार्था च पश्यन्ती सूक्ष्या वागनपायिनी।।[20]

आगम-शास्त्र में पर और अपर वाक्-तत्त्व का तो कलात्मक स्वरूप महा-सरस्वती वाग्देवी के रूप में उत्थित हुआ और उसका केवल रंगरूप ही पौराणिक था, चेतना तो आर्ष ही थी। प्रत्यभिज्ञा आगम ने इसमें केवल इतना ही अन्तर किया कि इस प्रातिभ तत्त्व को ही चरम न मानकर उसको परमशिव के प्रति सर्वदा के लिए उन्मुखीभाव में दिखाया। वह अपने अधिष्ठान-भूत परमशिव के प्रति पर अपर सभी भावों में भासित होती है। परमशिव ही उस महाशक्ति का परसौभाग्य है। वह वाक्रूप में भी शिव की ही एक क्रिया-शक्ति है। दोनों का सम्बंध "चन्द्रचन्द्रिकयोरिव" न्याय से अभेद-तादात्म्य है। इच्छा, ज्ञान और क्रिया आदि सभी शक्तियां उसी में समन्वित हैं। परा, पश्यन्ती, मध्यमा, वैखरी उसी का विकास है। शैव और शाक्तगण उसी "प्रातिभं महः" का ध्यान करते हैं जिससे बड़े-बड़े महाकवियों के काव्यों में अजस्र रसधारा उतर आती है। दार्शनिकों का तर्क ब्रह्मविचार बन उठता है। भक्तों का भाव महाभाव में परिणत हो जाता है। वह तथा-कथित वेदान्तियों की माया के समान विलक्षण और साख्यों की प्रकृति के समान शाश्वत रूप से प्रसवधर्मिणी एवम् सांख्यों की प्रकृति के समान शाश्वत रूप से प्रसवधर्मिणी एवम् पशुपति के अधीन होकर भी उनके इस रूप से भिन्न है क्योंकि वह चिति है, स्वतंत्रा है और विश्वसिद्धि का हेतु है।[21] वेद में कहा गया था कि "जिस मेधा की देवता और पितर लोग निरन्तर उपासना करते हैं उसी मेधा से हे देव मुझे मेधावी बना दीजिए।[22] यह कौन सी वैदिक मेधा थी जो प्रत्येक वैदिक मेधा के पीछे काम कर रही थी। क्या "मिह् सिंचने" धातु के मूल में जो रस चेतन था वही

परवर्ती प्रतिभा शब्द की मूल प्रेरणा बना ?

वैयाकरणों द्वारा, मानव-चेतना में समाए वाक्तत्व के संपूर्ण आलोड़न के साथ-साथ जैनों और बौद्धों में भी इस विज्ञानचक्षु की विभिन्न देवियों यानि पद्मावती, तारा या प्रज्ञा-पारमिता के रूप में उपासना होती ही रही है। किन्तु प्रामाण्यवाद के समर्थक आस्तिक दार्शनिकों ने अपनी सभी प्रमाणों के मूल में सर्वातिशायिनी प्रमा का साक्षात्कार किया उसकी निम्नलिखित परिभाषाएं आलोचन योग्य हैं :-

1. अविसंवाद्यनुभव इति बौद्धाः ।[23]
2. अव्यभिचार्यनुभव इति भाट्टदेशीयाः।[24]
3. यथार्थानुभवः प्रमाणजन्यं ज्ञानं वेति नैयायिकाः ।[25]
4. संशय-विपर्यय-विकल्प-स्मृतिरूप-चित्तवृत्तिभिन्ना या चित्तवृत्तिः सेति योगिनः ।[26]
5. अनधिगततत्त्व बोधः पौरुषेयो व्यवहाहेतुरिति संख्याः ।[27]
6. बोधेद्धावृत्तिर्वृत्तीद्धबोधो वा। अथवा वृत्तौ प्रतिबिम्बितं चैतन्यम् अथवा स्मृति भिन्नत्वे सति अबाधितार्थगोचरज्ञानं वा इति वेदान्तिनः ।[28]

इन सभी पारिभाषिकों ने इस प्रमा को दो स्तरों पर एक साथ काम करते देखा। जीव के स्तर पर यह जीवाश्रया प्रमा बन गई। वेदान्तियों ने इसे "अनधिगताबाधितविषयाकारान्तःकरण वृत्तिप्रतिबिम्बिता चित्[29] कहा तो ईश्वराश्रया प्रमा को "ईक्षणापरपर्याय स्रष्टव्यविषयाकार-मायावृत्तिप्रतिबिम्बिता चित्[30] कहा गया।

एक बात तो वेदान्तियों ने भी मानी कि जीव के अन्तः करण में और ईश्वर की सृष्टिरचना से पूर्व ईश्वर की मायावृत्ति में चित् का ही प्रतिबिम्ब है। कवि और ईश्वर की उपाधियों में प्रतिबिम्बित यह चित् ही रचनाधर्मितारूपी मूला प्रतिभा है।

कहना न होगा कि परवर्ती शाक्तों और काश्मीर शैवों ने अपनी-अपनी प्रत्यभिज्ञा में वैयाकरणों के शब्द-ब्रह्म को और दार्शनिकों के 'ज्ञानं ब्रह्म' को एक सूत्र में समन्वित कर काव्यार्थ को संगीतत्व और संगीत को काव्यत्व प्रदान कर - कालिदास की कृति के रूप में प्रसिद्ध अम्बास्तुति में कहा गया-

विद्यां परां कतिचिदम्बरमम्ब केचि दानन्दमेव कतिचित् कतिचिच्च मायाम्।
त्वां विश्वमाहुरपरे वयमामनामः साक्षादपारकरुणां गुरूमूर्तिमेव।।[31]

हमारे यहां के समस्त कवियों और समीक्षा-शास्त्रियों में से अधिकांश काश्मीर शैवों ने समस्त काव्यों और कलाओं में प्रतिभातत्त्व को पहचानते हुए कहा -

प्रतिभातिशंयो यत्र कवितानर्तकी सखः।
रसनारंगमासाद्य काव्यं नाटयतु स्फुटम्।
प्रतिभातिशयो नाम भूयसां तपसां फलम्।
तथा तदनुरूपाणां तस्यापि प्रसरो गिराम्।
तस्यापि काव्यरूपत्वमनवद्यं विभूषणम्।[32]

नम्मट एवम् आनन्दवर्धन सरीखे समीक्षकों ने शैवागम कें अनुसार केवल जीवाश्रया प्रतिभा का ही आंशिक सा वर्णन कवित्वशक्ति का प्रतीयमान ध्वनि के रूप में किया है। पंडितराज जैसे रसगंगाधारण करने वाले व्यक्ति ने भी प्रतिभा के केवल कण मात्र को ही छुआ है। क्योंकि प्रतिभा अशेष है। उसे कोई भी शेष नहीं कर सकता।

पाश्चात्य दर्शन एवम् काव्यशास्त्र में शब्द एक दो प्रयोग लगभग प्रतिभा के कुछ समानान्तर से ही हुए हैं। 'जीनियस' (genius) शब्द का मूल अर्थ आसुरी शक्ति इसलिए हो गया था कि सुकरात जिसे अन्तरात्मा की आवाज कहते थे वह स्टेट या शासन के विरुद्ध स्वतंत्र चेतना की आवाज थी। लेकिन 17वीं शताब्दी में आकर इसका रूप जो बना वह हमारे मम्मट की काव्यधारा, "नियति नियमकृतरहितां ह्लादैकमयीमनन्यपरतंत्राम्" [33] से देखिए कैसी मिलती है – "It was linked to the Platonic theory of inspiration and was applied to the rejection of too rigid rules in art. It defined the real artist and distinguished his creative imaginations from the logical reasoning of the scientist and Kant said' 'Genius creats its own rules."[34]

इसके अतिरिक्त पाश्चात्य दर्शन में जो यूनानी मूल का (Logos) लोगोस शब्द प्रयोग हुआ था वह शुद्ध-ज्ञान-परक था। ग्लैन-आर मारो कहते हैं :-

Logos, in its most important sense in Philosophy, it refers to a cosmic reason, which gives order and intelligibility to the world, In this sense the doctrine first appears in Heraclitus, who affirms the reality of Logos analogous to the reason in man that regulates all physical process and is the source of all human law.................It is the creative and form giving aspect of intelligence.[35]

शैवागमों में समस्त ज्ञानों एवम् संवेदनाओं के मूल में चित्शक्ति का ही अस्तित्त्व माना गया है। उसी को समस्त प्रमाणों को ग्रहण कराने वाली संवित् माना गया है। पौष्करागम कहता है :-

न चक्षुः शब्द-संवित्तौ न श्रोत्रं रूपवेदने।
सर्वत्र ग्राहिका संवित् सैव मानमतः परम्।। [36]

समस्त प्रमाता, प्रमाण-प्रमेय व्यवहार के बाहर भीतर इस संवित् का ही स्फुरण हो रहा है। स्फुरणा या स्फूर्जता इस संवित् का सहजस्वभाव है। "सा स्फुरत्ता महासत्ता[37] अर्थात् सदा सब रूपों में भासित होते रहना तथा भासित और भासमान की अन्विति का भान ही प्रकाश की विमर्श-रूपता है। आगम कहता है कि प्रकाश का अपनी इच्छा या राग से लाल हो उठना ही उसका विमर्श है "लौहित्यमेतस्य विमर्शः"[38]। इसी विमर्शशक्ति के कारण जब नादतत्त्व से लेकर पृथिवीतत्त्व पर्यन्त 36 तत्त्वों सहित जब शिवयोगी मस्तक में समस्त विषयों का युगपत् अनुभव करता है तो वह योगी की सप्रतिभा जाग्रद् अवस्था है –

नादादिपृथिव्यन्तषट्त्रिंशत्तत्त्वैः सह यदा ललाटस्थः।
सर्वान् विषयाननुभवति तदा सप्रतिभा जाग्रदवस्था।।[39]

ईश्वर-प्रत्यभिज्ञा के ज्ञानाधिकार में इस प्रतिभा के रूप की और ढंग से व्यापकता बताते हुए कहा गया है कि "विभु की मायाशक्ति द्वारा भिन्न बाहरी और आंतरिक वस्तु का विश्रान्ति स्थान वही विमर्शरूपा परावाक् चिति, ज्ञान, संकल्प, अध्यवसाय स्मृति और संशय के नाम से कही गई।[40] यह प्रतिभा जो भिन्न-भिन्न पदार्थों के देशकाल परिपाटी रूप क्रम से उपरंजित या परिच्छिन्न है, वही पारमार्थिक रूप में, प्रकाशरूपा होने से ही अक्रम, अनन्त, महेश्वर अथवा देशकाल और स्वरूप कृत परिच्छेदों से रहित चित् का रूप कही गई है।[41] भारतीय साहित्यशास्त्र के जिन मनीषियों ने इस प्रतिभा का साक्षात्कार किया उनमें से काश्मीर शैवाचार्य आनन्दवर्धन ने अपने ध्वन्यालोक ग्रन्थ के चतुर्थ उद्योत में काव्यकला के विवेचन के सन्दर्भ में यह घोषणा की कि जिस काव्यरचना की पृष्ठभूमि में प्रतिभा का गुण हो उसमें ध्वनि या व्यंग्यार्थ का वह लावण्य स्वयम् ऐसे फूट पड़ता है कि अर्थ-सौन्दर्य का तह दर तह विकास का क्रम रुकने का नाम ही नहीं लेता –

"न काव्यार्थ विरामोऽस्ति यदि स्यात्प्रतिभा गुणः।"[42]

और फिर इस प्रतिभा के अक्षयकोष की चर्चा करते हुए वहां यह भी कहा गया है कि वाल्मीकि की प्रतिभा-प्राप्ति के बाद भी यदि किसी कवि के अर्थों में कहीं प्रतिभा पाई जाती है तो वह सिद्ध करती है कि प्रतिभा अक्षय है, अनन्त है – तत्तदान्त्यमक्षयम्।[43] ऐसी प्रतिभा के धनी जो कवि हैं वे स्वप्न में भी कभी दूसरे कवियों की छाया, अर्थ, भाव या पद आदि ग्रहण नहीं करते।

"परस्वादानेच्छा विरतमनसो वस्तु सुकवेः।
सरस्वत्यैवैषा घटयति यथेष्टं भगवती।।[44]

भगवती प्रतिभा ही उनके लिए नए से नए अर्थों का उन्मेष करती चली है।

अन्त में मैं इतना कहना चाहूंगा कि भर्तृहरि जैसे वैयाकरणों ने जब यह बात मान ली थी कि आर्ष ज्ञान और आगम का वाक्तत्त्व दोनो परस्पर संपिण्डित हैं –"ऋषीणामपि यद् ज्ञानं तदप्यागमपूर्वकम्[45]", तो शैवों ने इन दोनों के एक साथ धारणकर्त्ता शिव की पराशक्ति प्रतिभा में अन्तर्भुक्त करके कहा कि प्रातिभ ज्ञान अनौपदेशिक है। यह सहज है। सीखा नहीं जाता। यह अक्रम है। सर्वविषयक है। परंमशिव के चितिशक्ति के प्रथम अवतरण की भूमिका ही प्रतिभा है। वह वाच्य-वाचक-विभाग से हीन पश्यन्ती भूमि उपदेष्टा-उपदेश्य के भेद से रहित है। अनौपदेशिक ज्ञान के मूल में आगम होना सत्य है। क्योंकि परावाक् या आगम ही पश्यन्ती या प्रतिभा का निदान है। उपरोक्त कविराज गोपीनाथ जी के प्रतिभा-सम्बंधी। दृष्टिकोण को उद्धृत करने के साथ ही शिवयोगी अमृतानंद के इस पद्य के साथ हम भगवती प्रतिभा को प्रणाम कह कर अपने वक्तव्य से विरत होते हैं –

"विमर्शरूपिणीशक्तिरस्य विश्वगुरोः सदा।
परिस्फुरति सैकापि नानाभावार्थरूपिणी।।[46]

– सन्दर्भ –

1. त्रिपुरा - रहस्य, ज्ञानखण्ड, 20-36
2. काठक, 12-5, 27-1
3 सरस्वती रहस्योपनिषद्, मंत्र-6
4. The Future Poetry, Page 280
5. तांत्रिक वाङ्मय में शाक्तदृष्टि, पृ० 43
6. वाक्यपदीय (टीका) पृ० 57
7. वही, पृ० 44
8. वही०
9. छान्दोग्य उपनिषद्, खण्ड-2
10. न्यायकुसुमाञ्जलि, 4-6
11. भाषा परिच्छेद (प्रत्यक्ष खण्ड) पृ० 62
12. संस्कृतहिन्दीकोश
13. न्यायसिद्धान्तदीपिका पृ० 59
14. न्यायदर्शन (हरिमोहनझा) पृ० 41
15. ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी 1-1-1, पृ० 20
16. स्पन्दकारिका, 2-30
17. सौन्दर्यलहरी , पृ० 30 पर वायुसंहिता से उद्धृत

18. वहीo, श्लोक पर अरुणामोदिनी, पृo 30
19. वहीo
20. वहीo पृo 31
21. चितिस्वतंत्रा विश्वसिद्धिहेतुः। प्रत्यभिज्ञा हृदय, सूत्र-1
22. ऋग्वेद (खिल भाग), मेधासूक्त, मंत्र-9
23. सर्वतंत्रसिद्धान्तपदार्थलक्षणसंग्रह, पृo 76
24. वहीo
25. वहीo
26. वहीo
27. वहीo
28. वहीo
29. वहीo, पृo 119
30. वहीo, पृo 72
31. अम्बास्तव, 27
32. सौन्दर्यलहरी, श्लोक 1 पर अरुणामोदिनी व्याख्या, पृo 14
33. काव्यप्रकाश, 1-1
34. Dictionary of Philosophy
35. वहीo
36. पौष्कर आगम, श्लोक-15
37. कामकलाविलास, श्लोक 4 पर टीका, पृo 6
38. भावनोपनिषत्, 28
39. शैव-परिभाषा पृo 62
40. भावनोपनिषत्, सूत्र-28
41. वहीo, 64
42. ध्वन्यालोक, 4-6
43. वहीo, 4-7 पर व्याख्या
44. वहीo, 4-17
45. वाक्यपदीय, ब्रह्मकाण्ड, 30
46. तांत्रिक वाङ्मय में शाक्तदृष्टि, पृo 49 पर उद्धृत

चतुर्थ-उन्मेष

प्रत्यभिज्ञा दृष्टि एवम् प्रातिभ सृष्टि में सम्बन्ध-विचार का स्वरूप

सृष्टि में 'सम्बन्ध' या रिलेशन एक ऐसा तत्त्व है जो उस सृष्टि में व्यवस्था सुस्पष्टता एवम् व्यवहार योग्यता लाता है। सृष्टि के चाहे पदार्थ की दार्शनिक मीमांसा (ontology) का प्रश्न हो या बोध-मीमांसा (epistemology) का प्रश्न हो, सर्वत्र ही सम्बन्ध के अन्यथारूप हो जाने पर व्यवस्था में परिवर्तन हो जाना स्वाभाविक है। अतः सम्बन्ध-तत्त्व का दार्शनिक विवेचन प्रायः सभी दर्शनों में होता है। क्योंकि जगत् में व्याप्त अनेकता, बहुत्व, एवम् द्वैतता की व्याख्या सम्बन्ध की व्याख्या किए बगैर नहीं हो सकती। इसलिए किसी दर्शन ने सम्बन्ध के दो भेदों का, किसी ने तीन का और कोई कोई सम्बन्ध चतुष्टय की भी बात करते हैं। किन्तु सामान्यतः सम्बंध के तीन रूप ही दर्शन-शास्त्र में चर्चित होते हैं जैसे कि एक विषय का दूसरे विषय के साथ क्या सम्बन्ध है ? विषय के साथ विषयी या आत्मा का क्या सम्बन्ध है तथा आत्मा का अन्य आत्माओं के साथ क्या सम्बन्ध है ? क्या आत्मा का अपने साथ या अपने स्वरूप के साथ भी कोई सम्बंध मानना चाहिए या नहीं, यह सम्बन्ध को लेकर चौथा विकल्प है।

पाश्चात्य दर्शन में भी उपरोक्त प्रतिपत्तियां सम्बन्ध को लेकर खड़ी की गई है। उनके उत्तर की भी खोज की गई है। किन्तु भारतीय दर्शनों में इस ओर जो महत्त्वपूर्ण प्रवृत्ति हुई है उसमें आत्मा और अनात्मा अथवा चित् और अचित् के सम्बंध की खोज को लेकर अधिक चर्चा हुई है। ज्ञान और अज्ञान, क्रिया और निष्क्रियता, भावना और शाब्दी और आर्थी भावना के युगलों को ध्यान में रखकर भारतीय दर्शन में पर्याप्त सम्बन्ध-विचार हुआ है। इसलिए सम्बन्ध की परिचर्चा में ज्ञान, क्रिया और भावना को आधार मानकर ही बात आगे बढ़ सकती है। ज्ञान का ज्ञाता के साथ, क्रिया का क्रियावान् के साथ तथा भावयिता का भावना के साथ सम्बन्ध तो साफ दीख पड़ता है, दूसरी ओर सृष्टि के सभी सम्बन्धों में भी ज्ञान, क्रिया और भावना का ही महत्त्व परिलक्षित होता है। यानि सम्बन्ध एक बौद्धिक या मानसिक क्रिया है जिससे सभी पदार्थों के पास-पास रहने पर या दूर होने में सार्थता या व्यर्थता का आभास मिलता रहता है। मैं समझता हूं कि इसी सन्दर्भ में वसुगुप्त का यह सूत्र कि "ज्ञान ही बन्ध है"[1] अधिक उचित रूप से व्याख्यात हो सकता है।

पाणिनि-व्याकरण में कारक-प्रकरण में सम्बन्ध की किसी कारक के रूप में नहीं, अपितु षष्ठी विभक्ति के रूप में चर्चा की गई है। "षष्ठी शेषे" सूत्र की व्याख्या में परवर्ती वैयाकरणों ने कहा है कि कारक और प्रातिपदिक अर्थ से भिन्न जहां कहीं स्वस्वामिभाव सम्बन्ध शेषरूप हो, वहां षष्ठी विभक्ति हो जाएगी।[2] लेकिन यदि कर्म आदि कारकों में भी

सम्बन्ध की विवक्षा हो तो भी षष्ठी ही होगी। इसी कारण कर्म में और हेतु प्रयोग में भी सम्बन्ध-षष्ठी का ही प्रयोग होगा।[3]

परवर्ती व्याकरणदर्शनकारों ने सम्बंध के इस सर्वसामान्य रूप की चर्चा की अपेक्षा शब्द और अर्थ के सम्बन्ध को लेकर विशेष चर्चा की। महाभाष्यकार पतंजलि और वाक्यपदीयकार भर्तृहरि इस क्षेत्र में मूर्धन्य माने जाते हैं। उन्होंने शब्द और अर्थ का नित्य सम्बंध माना है।[4] शब्दतत्त्व के ही परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी आदि रूपों से ही क्रमशः अर्थसृष्टि का उद्भव मान लेने से शब्दब्रह्मवाद के असन्तुलन को एकांगी मानते हुए सोमानन्द ने शैवी प्रत्यभिज्ञा की दृष्टि से शब्दशक्तिवाद की व्याख्या की।[5] बाद में उत्पल एवम् अभिनवगुप्त आदि ने वाग्ब्रह्म को शिव की कुण्डलिनी-शक्ति के सम्बंध के रूप में व्याख्यात कर दिया।

सम्भव है नैरुक्तों और वैयाकरणों ने ही इस प्रकार की सम्बन्ध-चर्चा का प्रारम्भिक प्रयत्न किया हो। क्योंकि शब्द और अर्थ का सम्बंध वैदिक काल से ही उनके चिन्तन का यथार्थ बन चुका था। परवर्ती दुखवादी दर्शनों में कार्यकारणभाव या ऐसे ही किसी अन्य प्रसंग से निषेधात्मक अर्थों में ही सम्बंध की व्याख्या हुई। निर्वाण-प्राप्ति या केवली पद की प्राप्ति के लिए सम्बन्ध की खोज नहीं अपितु सम्बन्धों में से किसी सर्वसम्बंध-शून्य परमपद की खोजकर सम्बन्धों का सम्पूर्ण शोषण ही अभिप्रेत था। वेसै प्रतीत्यसमुत्पाद का सिद्धान्त तो कारणता की खोज को ही लेकर था किन्तु उसकी पृष्ठभूमि में नैराश्य का दर्शन ही था।

सम्बन्धतत्त्व की चर्चा में वैयाकरणों के बाद न्याय-वैशेषिक ने महत्वपूर्ण योगदान किया है। गौतम ने शब्द और अर्थ के सम्बन्ध को लेकर तथा वैशेषिककार ने सभी पदार्थों के पारस्परिक सम्बन्ध को लेकर संयोग और समवाय की विस्तृत समीक्षा की। संयोग-सम्बन्ध की गणना द्रव्याश्रित गुणों में की गई है। उसे पदार्थों का बाह्य और अनित्य सम्बंध माना गया है। समवाय को एक स्वतंत्र पदार्थ के रूप में[6] एवम् वस्तुओं के अपने ही भीतर के आन्तरिक नित्य सम्बंध के रूप में प्रस्थापित किया गया। किसी भी कार्य की उत्पत्ति में निमित्त कारणों में संयोग को तथा उपादान कारणों में समवाय सम्बंध को स्वीकार किया गया।[7] वैशेषिक दर्शन इस नित्यानित्यसम्बन्धवाद को लेकर जीवन के व्यावहारिक रूप की व्याख्या करता रहा। किन्तु मूलतः असत्कार्यवादी होने से न्याय-वैशेषिक का नित्यता का सम्बन्ध भी सापेक्ष नित्यता ही माना गया है। क्योंकि अयुतसिद्ध[8] दो ऐसे पदार्थों के बीच का सम्बंध है जिनमें से एक का तो नाश होता ही है। इसमें नित्यता इतनी ही है कि नाश होने से पूर्व तक नष्ट होने वाली वस्तु या कार्य अपने कारण के साथ ही रहता है उससे भिन्न होकर नहीं। वास्तव में नैयायिकों के अनुमान में व्याप्तिकल्पना या अविनाभाव की

बात के मूल में वैशेषिकों के समवाय की प्रेरणा ही थोड़े परिवर्तन के साथ काम कर रही है।

लेकिन सांख्याचार्यों का सत्कार्यवादी दृष्टिकोण इस समवाय को इसलिए स्वीकार नहीं कर सका क्योंकि प्रकृति और पुरुष में नितान्त भिन्नता के कारण संयोग तो हो गया, किन्तु अव्यक्त और व्यक्त में ऐसे सम्बन्ध की कल्पना नहीं की जा सकती थी क्योंकि कार्य-प्रकृति का वहां नाश तो कभी होता नहीं, आविर्भाव और तिरोभाव अवश्य होता है। उदय से पूर्व और अस्त होने के बाद भी यदि कार्य की सत्ता अपने कारण में विद्यमान है तो इसे सम्बंध की वास्तव नित्यता ही मानना पड़ेगा, सापेक्ष नहीं। उस स्थिति में कार्य और कारण की नित्यता में से समवाय सम्बंध की अपेक्षा तादात्म्य सम्बंध उभर कर आता है। इस तादात्म्य सम्बंध को सांख्यों ने तिलों में तैल, कच्छप और उसके अंगों के परस्पर सम्बंध के उदाहरण से समझाया है।[9] उपरोक्त दोनों दृष्टान्तों का वैषम्य द्रष्टव्य है। तिलों से निकलने के बाद तैल पृथक् स्थित हो जाता है, जब कि कच्छप के अंग संकोच और विकास की दोनों दशाओं में कभी पृथक् नहीं हो पाते। इसी प्रकार दोहन के बाद गौओं का दूध अपने कारण गौ से भिन्न होकर स्थित हो जाता है।[10] सम्भवतः सांख्यों ने तादात्म्य सम्बन्ध की गहनता को कम आंका और इसी कारण शाक्तों ने उसे एक गहन आयाम दे दिया। जिसके प्रथम चरण में सम्भवतः प्रथम जड प्रकृति को चितिशक्ति में और चित्-पुरुष को शक्तिमान् के रूप में रूपान्तरित कर दिया गया। इस दार्शनिक रूपान्तरण का परिणाम ही शाक्ताद्वैत और शैवाद्वैत की पृष्ठभूमि हो सकता है। प्रकृति-पुरुष के द्वैत को अनुपयोगी मानकर सांख्य के व्यक्त-अव्यक्त के अभेद सम्बन्ध को चैतन्य के आलोक में रखकर देखने से परमार्थ और व्यवहार तथा व्यवहार और प्रतिभास के विरोध का समाधान ही नहीं अपितु सामञ्जस्य भी बैठ गया। शाक्तों का और काश्मीरी शैवाचार्यों का यह अभेद भेद में अभेद तथा अभेद में भेद का अनुसंधान करने से कभी क्षुब्ध नहीं होता। क्योंकि यह भेद-सहिष्णु अभेद या भेदाभेद सम्बन्ध से अधिक दृढ़ है। क्योंकि व्यक्त को अव्यक्त की स्वरूपविकृति या परिणाम न कहकर उसकी आत्माभिव्यक्ति मान लेने से चिदचित् के सम्बन्ध की दार्शनिक समस्या के सुलझने के साथ एक ऐसा सौन्दर्य-बोध भी जाग उठता है जो बौद्धों या निर्वाण पंथियों के महाशून्य की पृष्ठभूमि पर अनन्त जीवन के रंगों को बिखेर कर चित्र को पूरा कर देता है।[11]

यदि शिव की अनन्ता-अपरिसीम शून्य को छूती है तो उसकी अभिव्यंजना शक्ति परमशून्य को आवरण का सौन्दर्य देने के लिए उससे किसी भी रूप में छोटी कैसे रह सकती है। अतः शैवों और शाक्तों में समान आदर के पात्र त्रिपुरोपनिषद् आदि ग्रन्थों में शिवशक्ति के साम्य-भाव की परिकल्पना के अनन्तर सामरस्य का औचित्य बनाया गया है।[12]

शाक्तों ने शिव-शक्ति-साम्य की कल्पना जिस अंदाज़ या भंगिमा से की है, वह शैवदर्शन के सन्दर्भ में भी नितान्त महत्वपूर्ण है। पातंजल योगसूत्र के भाष्यकार व्यास ने भी ईश्वर और उसकी उत्कर्ष-महिमा या ऐश्वर्य के सम्बन्ध को लेकर दोनों के कुछ इसी प्रकार के साम्य की चर्चा की है।[13] आचार्य लक्ष्मीधर ने इस साम्य को बड़े विस्तार के साथ प्रतिपादित करते हुए शाक्तों के पंचविध साम्य-सम्बंध का विवेचन किया है। वे कहते हैं कि समया देवी हैं और समय शंभु हैं।[14]

लक्ष्मीधर शिव-शक्ति सम्बंध को बहुत ही संवेदनशील सम्बन्ध मानते हैं। अतः उसके मर्म के विषय में कहने में थोड़े संकोच के साथ केवल प्रौढ़ अधिकारियों को ही बताने के पक्ष में है। क्योंकि व्याख्यान में थोड़े से भी असन्तुलन से भ्रम पैदा हो जाने का खतरा जो रहता है। बौद्धिक या दार्शनिक क्रीड़ा वालों का इस क्षेत्र में प्रवेश ही वर्जित है, अतः इस सम्बंध चर्चा को – "नादबिन्दुकलातीतं भागवतं तत्त्वमिदं सर्वागमरहस्यम्"[15] कहकर इसकी अनुभवगम्यता की ओर संकेत करते हुए लक्ष्मीधर उपरोक्त पंचविध साम्य के साथ ही चार प्रकार के शिव-शक्ति के तादात्म्य[16] को बताकर फिर सामरस्य की बात समझने की ओर संकेत करते हैं। आनन्दभैरव शिव और आनन्दभैरवी के अतिगहन आपसी सम्बन्ध में आचार्य शंकर ने सौन्दर्य-लहरी में शेष शेषी[17] भाव की उद्भावना की है जिसमें कभी शिवभाव प्रमुख हो उठता है तो कभी शक्तिभाव। प्रकाश और विमर्श का यह सामरस्य ही शैवों और शाक्तों का परम ध्येय है। कौलों के जिस मत का काश्मीर शैवदर्शन के साथ अभिन्नता का सम्बंध है उसी को उद्धृत करते हुए लक्ष्मीधर ने भैरव और भैरवी के नौ प्रकार के ऐक्य[18] की चर्चा करते हुए 'यथाहुः कौलाः' करके सामरस्य की परिभाषा इस प्रकार दी है – जब परानन्दरूप पराशक्ति और चिद्रूपभैरवी का सामरस्य होता है तभी जगत् की उत्पत्ति होती है।[19]

वस्तुतः दार्शनिक जगत् में मूल सम्बंध की खोज का इसलिए महत्त्व बढ़ जाता है क्योंकि उसके स्फुट हो उठने पर सृष्टि में सर्वत्र सम्बंधों की सार्थकता या व्यर्थता का रहस्य समझ आ जाता है। दिन रात का जीवन सहज हो उठता है। परवर्ती अद्वैत वेदान्त ने जिस प्रकार जीवन और जगत् की व्याख्या दी थी, उसके अनुकूल भौतिक और आध्यात्मिक सत्ताओं के बीच एक संकट खड़ा हो गया था। अत्यन्त ही भेद असहिष्णु ब्रह्म जब माया, जीव जगत् और प्रकृति को कवलित करके अत्यन्ताभेद के फेर में सजातीय और विजातीय पदार्थों के भेद से शून्य होने के अतिरिक्त, स्वगत भेद से भी शून्य होने लगा[20] तो सारे सम्बंध ही शून्य हो गए। कौन किससे बात करे ? क्यों करे ? और कैसे करे ? इस विडम्बनात्मक स्थिति से बचने के लिए माध्यमिक शून्यवाद ने और शंकर के अद्वैतवाद ने व्यावहारिक सत्ता का आश्रय लेकर पीछा छुड़ाने के लिए जिस सम्बन्ध की कल्पना की वह मिथ्या,

आभासात्मक और जीव की कल्पनामात्र था। उसे स्पष्ट करने के लिए ही अध्यास-भाष्य की रचना करनी पड़ी। और येन-केन प्रकारेण विवश होकर एक तार्किक संगतिमात्र प्राप्त करने से ही संतोष करना पड़ा। अतः कहा गया है कि जो असंग निष्क्रिय और निराकृति है उस परम आत्मा का सृष्टि के पदार्थों से सम्बंध उसी प्रकार नहीं हो सकता जैसे कि नीलता या नीलेपन का आकाश के साथ कोई सम्बंध नहीं हो सकता।[21] अतः वेदान्तियों में किसी उपाधि रहित सम्बंध की कल्पना तक न हो सकने से सृष्टि में सर्वत्र ही औपाधिक सम्बन्ध की धारणा उठ खड़ी हुई। उपाधि क्या है? इस प्रश्न के उत्तर में कहा गया है कि वह एक ऐसी परिच्छिन्नता (Limiting Factor) है जो जीव की बुद्धि में से एक भ्रान्त कल्पना की तरह उदित होती है और कल्पना से ही पूर्णता को देशकृत और कालकृत भेदों से जोड़ देती है जो वास्तविक नहीं है।[22]

वस्तुतः वेदान्त की सम्बन्ध-विषयक ऐसी धारणा के ऐतिहासिक आधार हैं जिनके परिप्रेक्ष्य में उसके यथार्थ को समझा जा सकता है। भारतीय दर्शन के आरम्भ में ही पदार्थ-मीमांसा और ज्ञान-मीमांसा का जो विच्छेद घटित हुआ उसके परिणाम स्वरूप सारा बल न्याय, योग, सांख्य, मीमांसा और वेदान्त की ज्ञान-मीमांसा पर ही आ गया। फलतः मोक्ष-शास्त्रीय यह धारणा कि सारे के सारे कर्म ज्ञान में परिसमाप्त हो जाते हैं,[23] यह धारणा भारतीय जीवन के यथार्थ का ही उन्मूलन करने लगी। यही कारण रहा कि पदार्थ-मीमांसा की नींव विद्यमान रहने पर भी पदार्थ विज्ञान का वह विकास यहां नहीं हुआ जैसा पश्चिम में हुआ।

सम्बन्धतत्त्व की परिकल्पना में पदार्थ और पदार्थज्ञान का समान महत्त्व होना चाहिए। उसे केवल तार्किक आवश्यकता से पैदा हुई कल्पना मान लेने का परिणाम दार्शनिक असन्तुलन हो सकता है। पदार्थरूपा चिति जीवचिति को और जीवचिति पदार्थचिति को जब प्रभावित करने लगे तभी सम्बंध का स्वरूप खड़ा होता है। वह एकपक्षीय नहीं हो सकता। प्रत्यभिज्ञा और प्रतिभा दर्शनों ने इस एक पक्षीयता को त्यागकर उस समन्वय-सूत्र को खोज लेने का प्रयास किया है जिससे ज्ञाता और ज्ञेय, द्रष्टा और दृश्य, प्रमाता और प्रमेय, धर्म और धर्मी सभी को एक दूसरे के सन्दर्भ में सार्थकता मिले। शैवों के इस सम्बन्धसूत्र का नाम ही अभेद-तादात्म्य सम्बन्ध है। यंत्र की दृष्टि से देखें तो परमशिव प्रकाश का पराशक्ति (विमर्श) के साथ सम्बंध त्रिकोणात्मक विश्व-विमर्श का बिन्दुमण्डलात्मक विश्वविमर्श के साथ अभेद तादात्म्य है। लेकिन यह ऐसा तादात्म्य है जिसमें अत्यन्त विरुद्ध परिणाम और विवर्त की भी यथायथ व्यवस्था हो जाती है। ब्रह्मसूत्र के श्रीकण्ठ-भाष्य में प्रकृत्यधिकरण[24] की चर्चा में कहा गया है कि परमशिव जगत् के अभिन्ननिमित्त और उपादान दोनों कारण हैं। उसकी शक्ति ही विशेषणरूपा माया जब होती है तो उस विशेषणांश माया में परिणाम ही परिणाम होते हैं। जब कि विशेषण रूप मायांश में कोई परिवर्तन न होने से विवर्त ही

मानना पड़ेगा। इस प्रकार परिणाम और विवर्त-सम्बंधी-कार्य कारणता के सम्बन्ध का औचित्य सिद्ध हो जाएगा।[25]

लेकिन प्रत्यभिज्ञा-दर्शन जिस दृष्टि को लेकर चला उसमें शक्ति और शक्तिमान् की अभिन्नता ही प्रत्यक्ष हो रही थी। इसलिए उसने एक ऐसे आभासवाद को ग्रहण किया जिसमें परिणाम, विवर्त, अवच्छेद, प्रतिबिम्ब, आरम्भ आदि सभी वाद अपना समीकरण और महत्त्व भी ढूंढ लेते हैं। उत्पलाचार्य ने स्पन्दकारिका पर अपने विवरण में परिणाम और विवर्त की एकत्र व्यवस्था करते हुए परिणाम के पक्ष में स्वर्ण और उसके बने अलंकारों का तथा विवर्त के पक्ष में आकाश का और उसी की उपाधि से अवच्छिन्न भिन्न-भिन्न घटाकाश आदि भेदों का तथा परमशिव की सर्वरूपता का दृष्टान्त दिया है।[26]

वस्तुतः त्रिक-दर्शन में जिस आभासवाद का प्रवर्तन हुआ वह सुरेश्वराचार्य के अद्वैतवेदान्त सम्मत आभासवाद से नितान्त भिन्न कोटि का था। उसके मत में मिथ्यात्व का दर्शन नहीं, प्रकाश और उसकी कान्ति के सम्बंध का दर्शन था। यह सम्बंध अनुभव की उस पराकाष्ठा पर उपलब्ध होने वाला सत्य था जिसमें इन्द्रियां, मन, बुद्धि, चित्त, अहम् आदि शिवोन्मुखी मुद्रा में शिवरूप हुए रहते हैं। किन्तु इस अनुभूति का विकास जब बुद्धि के स्तर पर होने लगता है तो विवर्तवाद की बौद्धिकता का उदय हो उठता है। वही विवर्त जब शुद्ध बौद्धिकता के स्तर से उठकर शाश्वत समता में स्थित चेतना की तुलना में भूतों के परिणामों को देखते-देखते उसी के साथ जुड़ जाता है तो परिणामवाद की व्यवस्था होने लगती है। परिणाम की ही चेतना के संदर्भ से हटते हुए मात्र भूतवादी व्याख्या की प्रस्तुति आरम्भवाद के रूप में वैशेषिकों का प्रतिपाद्य बन जाती है। इस प्रकार का संकेत कविराज गोपीनाथ ने शाक्ताद्वैत के सन्दर्भ में किया है।[27] लेकिन आभासवाद की प्रकाश-विमर्श के सम्बंध को लेकर की गई व्याख्या त्रिक अथवा प्रत्यभिज्ञा दृष्टियों को सर्वथा मान्य रही है जो चेतना के क्रियात्मक स्फुरण को यथार्थ-प्रत्यक्षानुभूति के स्तर पर सर्वोच्च प्राथमिकता दिए हुए है और विवर्त, परिणाम एवम् आरम्भवाद की आधारभूमि भी बनाती है तथा सम्बंध का स्पष्टीकरण भी करती है।

प्रत्यभिज्ञा परमशिव की ही चैतन्यशक्ति है। जो परमशिव के साथ अभेद न्याय से रहती है। अतः शक्ति और शक्तिमान् का अभेद-तादात्म्य ही त्रिक-दृष्टि का मूल प्रतिपाद्य है,[28] जिसकी वज़ह से कौल, क्रम, स्पन्द और प्रत्यभिज्ञा मतों का परस्पर सामरस्य घटित होता है। लेकिन आचार्य उत्पल इस बात के प्रति पूर्णरूपेण सचेत हैं कि पारमार्थिक अभेद-दशा में सम्बन्ध नामक पदार्थ की कल्पना करना ही कठिन हो जाएगा। क्योंकि पारमार्थिक अर्थ यदि अपने स्व से कभी भिन्न ही नहीं होते तो उनके परस्पर संयोजन का अर्थ ही कुछ

नहीं रह जाता। दूसरे एकत्व और अनेकत्व में परस्पर विरुद्धता होने के कारण भी कोई सम्बंध नहीं बनता। अतः हमारे आलोच्य दर्शन की अभेद-दृष्टि सृष्टिगत भेदों का निषेध अथवा निराकरण न करके भेदजगत् की अपने में व्यवस्था करती है। आचार्य उत्पल ने अपनी रचना 'सम्बंध-सिद्धि' में शिव के उस परमरूप की स्तुति की है जिसमें भेद और अभेद आदि सभी सम्बंधों का सह-अस्तित्त्व है। भावों में भिन्नता उस रूप का अलंकार है विरोधिनी नहीं।[29]

इस दृष्टि से हमारे सम्मुख सम्बंध के दो रूप उभरते हैं। एक तो विश्व के विविध पदार्थों का आपस में सम्बंध और दूसरे उन पदार्थों का परमशिव से सम्बंध। ये दोनों सम्बंध भेद और अभेद रूप होने से ही साथ-साथ चल पाते हैं। शैवों के समकालीन महावैयाकरण भर्तृहरि के वाक्यपदीय में भी शब्द और अर्थ के पारस्परिक सम्बंध-विमर्श के सन्दर्भ को लेकर ऐसा विचार चल रहा था जिससे कि भिन्नताओं में अविरोध की स्थिति का सम्पादन हो सके। इसके लिए उन्होंने पदार्थों की दो प्रकार की सत्ता स्वीकार की है। एक तो उनकी संप्रतिसत्ता है जिसे मुख्य सत्ता (Primary Being) कहा जा सकता है। दूसरी औपचारिकी सत्ता है जो पदार्थों की भिन्न भिन्न अवस्थाओं में भिन्न रूपों का सर्जन करती है।[30] इन भिन्न रूपों में जो सम्बंध औपचारिक सत्ता के स्तर पर है उसका अनुसंधान वैयाकरणों ने और शैवों ने अपने अपने सन्दर्भों में पर्याप्त किया है।

प्रत्यभिज्ञा-दर्शन की ओर से सृष्टि के विभिन्न भावों या पदार्थों की परस्पर सम्बन्ध रचना पर "सम्बन्धसिद्धि" के रचनाकार महत्वपूर्ण प्रकाश डालते हैं। भावों के सम्बंध को सम्मुख रखकर वे सर्वप्रथम पर्यायवाची - संसर्ग, संपर्क, संश्लेष आदि शब्दों के प्रयोग से भी कोई काम न बनता देख कर स्वयं प्रश्न उठाते हैं - "कि क्या संश्लेष एक निरन्तर सम्बंध है या कुछ और?[31] उत्तर है कि यदि नैरन्तर्य को सम्बंध मानकर चलें तो पितापुत्र की देशगत दूरी होते ही सम्बंध न रहेगा तथा लोटा और लौहशलाका के सदा एक साथ रहने से (अथवा किन्हीं भी विभु द्रव्यों में) भी वह स्वात्म-सम्बंध मानना पड़ेगा। अब यदि हम सम्बंध को कोई द्विष्ठ पदार्थ मान लें तो किन्हीं भी दो वस्तुओं में रह सकता है। तो वहां भी प्रश्न उठेगा कि द्विष्ठता तो द्वित्व और दो वस्तुओं के पृथक्त्व में या पृथक् होकर रहने में भी रहती है। फिर यदि किन्हीं दो भिन्न वस्तुओं की परस्पर अपेक्षा या एक दूसरे पर निर्भरता का सम्बंध कहा जाए तो कठिनाई यह आएगी कि दो जड़ अथवा अचेतन पदार्थों में कोई अपेक्षा या परतंत्रता जैसी बात नहीं रहती। और यदि यह कहें कि एक की या दूसरे की मुख्य इच्छा, आकांक्षा या प्रार्थना ही अपेक्षा या पारतंत्र्य है तो प्रश्न उठेगा कि क्या हम ऐसे व्यक्ति का, जिसको अपना स्वरूप ज्ञान ही नहीं है, उसमें उठ रही अपनी ही स्वरूप-प्राप्ति की इच्छा

को क्या सम्बंध कहेंगे? वहां एक व्यक्ति में इच्छा का स्वरूप अपने प्रति ही रहने से द्विष्ठता या दो के होने की स्थिति कहां रहेगी।[32]

उत्पलाचार्य कहते हैं कि सम्बन्ध, सम्पर्क या संश्लेष ये सब पर्याय शब्द है। संश्लेष का अर्थ अनेक की एकता है। न केवल अनेकता और न ही अकेली एकता बल्कि दोनों अवस्थाओं की अपेक्षा का होना ही सम्बंध है।[33] सम्बंध का आधार केवल मात्र पदार्थों का अनेक होना या एक होना भी नहीं है अपितु दो वस्तुओं का एकता की ओर बढ़ना सम्बंध कहा जा सकता है।[34] अतः सम्बंध मूलतः उभयापेक्षी है। उसकी यह उभयापेक्षिता इस प्रकार की है जो अनेकत्व को एकत्व की ओर अग्रसर करती है। उत्पलाचार्य सम्बंध शब्द की व्युत्पत्ति देकर कहते हैं कि सामान्यतः सम्बंध का शब्दार्थ तो यही निकलता है कि वस्तुओं का भिन्न भिन्न देशों में न होकर किसी एक देश में अवस्थित अनेक पदार्थों की एकता है।[35] जैसे कि 'पितुः पुत्रः', 'राज्ञः पुरुषः', 'वृक्षस्यशाखा', 'नीलमुत्पलम्' आदि में सम्बन्ध अनेक प्रकार का है। कहीं जन्यजनक भाव है, कहीं स्वस्वामिभाव है, कहीं अवयव–अवयवी-भाव है, तो कहीं विशेषण-विशेष्य-भाव है। उपरोक्त इन उदाहरणों में पदों का क्रम आगे पीछे कर देने से सम्बंध के कई प्रकार के भेद बन जाएगे किन्तु अब प्रश्न उठता है कि सम्बंध की रचना में क्या वस्तुओं के एक जगह रहने में ही सारा महत्व है या उनके समीप होने की प्रतीति अथवा बोध का महत्त्व है।[36]

घट आदि पद-पदार्थ जो अपनी अपनी सत्ता के कारण पृथक्-पृथक् होकर स्फुरित होते हैं उन्हें प्रत्यक्ष द्वारा प्रतीत कर लेने के बाद ही हम उनके परस्पर सम्बंध की कल्पना करते हैं। क्योंकि जितने भी भाव या पदार्थ हैं वे सभी वैसे तो अमिश्र दशा में ही रहते हैं। कल्पना ही उन्हें परस्पर जोड़ती है – जैसे "नीलमुत्पलम्" में शाब्दी कल्पना से ही नीलवर्ण और उत्पल की एकात्मकता का बोध होता है। लेकिन यह सम्बंध-कल्पना इसलिए अवास्तविक नहीं होती क्योंकि यह कल्पना अपने अर्थ या वस्तु के स्वरूप से भिन्न होकर नहीं रहती। अतः त्रिकमत में कल्पना या विकल्प अर्थ-प्रतिभास से नितान्त भिन्न न होने से दोष नहीं माने जाते।[37] क्योंकि प्रमा और प्रमाण का सम्पूर्ण क्षेत्र ही विकल्प-वृत्ति पर आधारित है।[38] यह विकल्प या संकल्प-वृत्ति ही जब विश्व के पदार्थों में संगठन-सूत्र को प्रत्यक्ष करती है तो सम्बंधों का एक नया अध्याय खुलने लगता है। इस बारे में शैव दृष्टिकोण इस प्रकार है कि परमार्थरूप-चिद्वस्तु तो विश्वात्मरूप है। उस चिन्मात्र या परम की अपनी ही माया-शक्ति के प्रभाव से उसके अभेद या अभिन्नता का ज्ञान लुप्त होने लगता है तथा उसका विश्वात्मभाव भिन्न-भिन्न तत्त्वों के रूप में वैचित्र्य या अनेकत्व में स्फुरित होने लगता है जिससे वस्तुओं का अन्योन्य-विभाग हो जाता है।[39]

यह सम्बंध पदार्थ दो की ही अपेक्षा रखता है। इसको जानने के लिए युगल-भाव को समझना अनिवार्य है। सर्वप्रथम युग्म तो शिवशक्ति का ही बना है फिर उसके बाद बहुसंख्यक वस्तुओं के ज्ञान में भी हमें युग्मभाव ही मिलेगा। और इस तरह एक ओर तो "बहुत" शब्द का प्रयोग करने से हमारे मस्तिष्क में "बहुत्व संख्या विशिष्ट बोध एक विशिष्ट बोध या परामर्श के रूप में उदय होगा। दूसरी ओर "एक" शब्द का प्रयोग करने से भी "एक-संख्या-विशिष्ट" एक ही बोध उदय होगा। इन दो अर्थात् अनेकत्व और एकत्व परामर्शों से ही एक ही मनुष्य का अनेक प्रकार की अपनी संपत्ति से युग्म-सम्बन्ध बन जाएगा। इससे उत्पलाचार्य सम्बन्ध को दो ही में मानते हैं, बहुतों में नहीं।[40]

इस प्रकार मायादशा में उठी द्वैत-परकता शैव-दर्शन के अद्वैत के आड़े न आ जाए, इसलिए सम्बन्ध-पदार्थ की खोज अत्यावश्यक है। क्योंकि सम्बंध ही सृष्टि में फैले ग्राह्य पदार्थों और ग्राहक पदार्थों को विश्रृंखल होने से बचाता है और पदार्थों के युग्मभाव के पीछे अद्वैत बन कर खड़ा हो जाता है। ग्राह्य और ग्राहक के बीच योजक तत्त्व बन जाता है। श्री-विज्ञान-भट्टारक का यह कहना कि सामान्य लोगों को तो ग्राह्य और ग्राहक सम्बंधी संवेदनात्मक ज्ञान भी सामान्य ही रहता है उसी से उनका लोकव्यवहार चल जाता है। किन्तु शैवयोगियों का वैशिष्ट्य यही है कि वे ग्राह्य-ग्राहक की अपेक्षा उनको जोड़ने वाले सम्बन्ध तत्त्व के प्रति ही अधिक सावधान रहते हैं।[41] यह तथ्य इस बात को पुष्ट करता है कि विश्व के समस्त भेद-पदार्थों के मूल में योजक तत्त्व या सम्बंध-पदार्थ केवलमात्र परमशिव या परचिति ही है जो स्वयं सदा ही अभेदरूपा है। उसी अभेद-रूप परमार्थ-सम्बंध के बारे में ही योगी का व्यवहार-दशा में भी सचेत रहना या शिवता को विस्मृत न होने देना ही सम्बंध की सही पहचान है, जो व्यवहार में भी पारमार्थिक है।

त्रिकदर्शन में एक बार इस भेदाभेदात्म-सम्बंध के निश्चित हो जाने के बाद शैवों का अभेदतादात्म्यम सम्बंध शाक्तों के शक्ति-शक्तिमद्भाव-सम्बंध को अथवा धर्म-धर्मिभाव सम्बंध को भी आत्मसात् कर लेता है।[42] क्योंकि धर्म-धर्मिभाव में भी ऐसा तादात्म्य है जिसे किसी भी दशा में खण्डित नहीं किया जा सकता। अपितु उनकी परस्पर सम्बंध-व्याप्ति के बल पर शैव लोग धर्म से धर्मी तक शीघ्र पहुंच पाने की भी बात कर देते हैं, कहीं कार्य से कारण को, कहीं कारण से कार्य को ग्रहण कर लेते हैं तथा घट आदि धर्म के बल पर धर्मी कुलाल के कर्तृत्व को इसी सम्बंध व्याप्ति के बल पर भी पकड़ लेते हैं।[43] किन्तु इस धर्मधर्मिभाव सम्बंध का वैशिष्ट्य यह है कि अभेदमूलकता के कारण इसमें किसी का मुख्य गौणभाव नहीं है अपितु समप्राधान्य है।

– सन्दर्भ –

1. ज्ञानं बन्धः। शिव सूत्र, 1-2
2. षष्ठी शेषे। कारकपदार्थव्यतिरिक्तः स्वस्वाभिभावादिसम्बन्धः शेषस्तत्रषष्ठी स्यात्। कर्मादीनामपि

सम्बन्धविवक्षायां षष्ठ्येव।। सिद्धांतकौमुदी, 2-3-50

3. षष्ठी हेतु प्रयोगे। अष्टाध्यायी, 2-3-26
4. सिद्धे शब्दार्थ-सम्बंधे। महाभाष्य, प्रथम आह्निक
5. शिवदृष्टि, आह्निक-2
6. द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमायाभावाः सप्तपदार्थाः। तर्कसंग्रह
7. स्वसमवेतकार्योत्पादकं समवायिकारणम्। वही०
8. ययोर्द्वयोर्मध्ये एकमविनश्यद् अपराश्रितमेवावतिष्ठते तौ एव द्वौ अयुतसिद्धौ विज्ञातव्यौ। वही०
9. सांख्यकारिका, 9 पर तत्त्वकौमुदी
10. वही०
11. निरुपादानसंभारमभित्तावेवतन्वते।
    जगच्चित्रं नमस्तस्मै कलाश्लाघ्याय शूलिने।'' स्तवचिन्तामणि, 9
12. भगश्शक्तिर्भगवान्काम ईश उभा दातारविहसौभगानाम्।
    समप्रधानौ समसत्त्वौ समो तयो समशक्ति रजरा विश्वयोनिः।'' त्रिपुरोपनिषद्, 14
13. एतयोः शास्त्रोत्कर्षयोरीश्वरसत्वेवर्तमानयोरनादि सम्बन्धः। योग सूत्र, 1-24 पर व्यास भाष्य।
14. शंभुना पंचविधं साम्यं यातीति समया। समयत्वं शम्भोरपि देव्या सह पंचविधंसाम्यं यातीति। अतः उभयोः समप्रधान्येनैव --- चेति पंचविध समप्रधानयोरेव शिवयोः। सौन्दर्यलहरी, श्लोक 41, पृ० 31
15. वही, पृ० 133
16. "समयिनां चतुर्विधैक्यानुसंधानमेव भगवत्याः समाराधनमित्येतत् सर्वसंमतम्।'' सौन्दर्यलहरी, श्लोक-41 पर लक्ष्मीधरा टीका, पृ० 133
17. "अतः शेषश्शेषीत्ययमुभयसाधारणतया स्थितस्सबन्धो वां समरसपरानन्दपरयोः।'' वही०, श्लोक 34, पृ० 111
18. अतो नवविधैक्यं भैरवीभैरवयोर्ज्ञातव्यमिति कौलमतरहस्यम्। वही०
19. परानन्दपराशक्तिश्चिद्रूपानन्द भैरवी। तयोर्यदासामरस्यं जगदुत्पद्यते तदा। वही०
20. वृक्षस्य स्वगतो भेदः पत्रपुष्पफलादिभिः।
    वृक्षान्तरात्सजातीयो विजातीयश्शिलादितः।।
    तथा सदवस्तुनो भेदत्रयं प्राप्तं निवार्यते।
    ऐक्यावधारणद्वैतप्रतिषेधैस्त्रिभिः क्रमात्। पंचदशी, 2-20, 21
21. "भ्रान्तिं विना त्वसंगस्य निष्क्रियस्य निराकृतेः।
    न घटेतार्थसम्बन्धो नभसो नीलतादिवत्। विवेक चूड़ामणि, श्लोक-197
22. यद् बुद्ध्युपाधिसंबन्धात्परिकल्पितमात्मनि।
    जीवत्वं न ततोऽन्यत्तु स्वरूपेण विलक्षणम्।
    सम्बंधः स्वात्मनो बुद्ध्या मिथ्याज्ञानपुरस्सरः।। वही, श्लोक 202, 203
23. सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते। गीता, 4-33
24. ब्रह्म सूत्र, 1-4-23
25. शैवपरिभाषा, संस्कृत भूमिका, पृ० 4

26. "यत्र यस्मिन् स्पन्दतत्त्वे इदं सर्वं जगल्लक्षणं ज्ञानरूपतया शक्त्यात्मना स्थितं निमेषावस्थायां तस्यानावृतरूपत्वाद् --- बोधरूपतया अनाच्छादितस्वरूपत्वाद् हेतोर्न कुत्रचिन्निरोधोऽस्ति। यतो बोध्यस्य स्वयं सत्तैवनास्ति।।" स्पन्द प्रदीपिका, 2, शैवपरिभाषा, संस्कृत भूमिका पृ० 4

27. Aspects of Indian Thought, page 220, 221

28. "शक्तिश्चेयं शक्तिशक्तिमतोरभेदन्यायेन शिवादभिन्ना संविन्मयी हृदयविमर्शसारोर्मि प्रत्यभिज्ञापरामर्शादिपदाभिधेया"। शैवपरिभाषा, संस्कृत भूमिका, पृ० 5

29. भेदाभेदात्मसंबन्धसहसर्वार्थसाधिता।
लोकयात्राकृतिर्यस्य स्वेच्छया तं स्तुमः शिवम्।।
भावभेदादिसम्बंधमयेन वपुषोन्मिषन्।
जयत्येकोऽपि विश्वात्मा प्रकाशः परमेश्वरः।। सम्बंधसिद्धि, 1, 2

30. क) तस्मादभिन्नेषु धर्मेषु विरोधिष्वविरोधिनीम्।
विरोधिख्यापनायैव शब्दैस्तैस्तैरुपाश्रिताम्।।
अभिन्नकालामर्थेषु भिन्नाकालेष्ववस्थिताम्।
प्रवृत्तिहेतु सर्वेषां शब्दानामौपचारिकीम्।।
एतां सत्तां पदार्थों हि न कश्चिदतिवर्तते।
सा च संप्रतिसत्तायाः पृथगभाष्ये निर्दशिता।। (वाक्य पदीय, 1-13 से 18) पृ०-478, भर्तृहरि-ए स्टडी ऑफ वाक्यपदीय, के. ए. सुब्रामण्यम एय्यर, 1969, पूना
ख) "व्यपदेशे पदार्थनामन्या सत्तौपचारिकी। सर्वावस्थासु सर्वेषामन्यरूपस्य दर्शिका।।" वही, 1-9 पृ० 477

31. "कि नैरन्तर्यं संश्लेष उतान्याकिंचित्। सम्बंधसिद्धि, पृ० 1

32. द्विष्ठतैव सम्बन्धता चेत् तद्द्वित्वपृथक्त्वादेरपिसा स्यात्।" वही०

33. स च संश्लेषार्थोऽनेकस्यैकता कथ्यते। न त्वनेकतैव नापि एकतैव अपितु उभयावस्थापेक्षोऽयमर्थ सम्बंधः।" वही०

34. द्वयोरेकात्मतेति सम्बंध शब्दार्थोऽवयवानुसारेणैव व्यवस्थितः। वही, पृ० 3

35. 'सं' शब्देन सहार्थवृत्तिना समानार्थवृत्तिना वा बन्धिना च देशान्तपरिहारपूर्वकैकदेशावस्थानार्थेन विस्पष्टमुक्तैव स ह्यनकस्यैकता।" वही०, पृ० 3

36. "तत्र.यदि प्रतीतिमात्रमेतत् वस्तुस्वरूपं तर्हि वक्तव्यम्।" वही०, पृ० 3

37. कल्पनारूपत्वं च नास्या दोषः। घटोऽयं पटोऽयमित्यपि विकल्पः कल्पनैव।" वही० पृ० 5

38. मनोमात्रजन्या असाधारणार्थविषया विकल्पाः। शिवसूत्रविमर्शिनी पृ० 25

39. अतएव मायादशायामेवाख्यातिभेदप्रधानायां संबन्धपदार्थसद्भावः। विश्वात्मतायां पुनः पूर्णैकतैव नतु सम्बन्धार्थः कश्चित्। सम्बंधसिद्धि, पृ० 6

40. क) स च सम्बन्धो द्वयोरेव भवति न बहूनाम्।" वही, पृ० 57
ख) बहुत्वेऽपि भवेद् द्वित्वं विशेषणविशेष्ययोः।
द्विविधराभुवो यद्वद् राज्ञोऽश्वत्थपदास्त्रयः। वही०, पृ० 7

41. ग्राह्यग्राहकसंवित्तिः सामान्या सर्वदेहिनाम्।
योगिनां तु विशेषोऽयं सम्बंधे सावधानता।। तंत्रालोक, 10-204 पर टीका

42. शक्तोऽस्य जगत्सर्वं शक्तिमाँस्तु महेश्वरः।
शक्तिस्तुशक्तिमद्रूपाद् व्यतिरेकं न गच्छति।।
तादात्म्यमनयोर्नित्यं वह्निदाहकयोरिव।
शक्तिशक्तिमतोर्यस्मादभेदः सर्वदा स्थितः। शैव परिभाषा, (भूमिका) पृ०-5

43. धर्मेण साध्यते धर्मो क्वचत्कार्येण कारणम्।
कारणेन क्वचित्कार्यं क्वचिदाम्नाय दर्शनात्।
घटादिधर्मात्कर्तृत्व कुलाले धर्मिणि स्थितम्।। वही०, पृ० 31

पंचम उन्मेष

प्रतिभा : एक पारिभाषिक एवम् विश्लेषणात्मक अध्ययन

निःसन्देह त्रिपुरादर्शन को शाक्ताद्वैत एवम् प्रतिभादर्शन के नाम दिए जा सकते हैं। इस दर्शन के अनुसार तीन वेद, तीन लोक (भूः, भुवः और स्वः), तीन अग्नियां, तीन गुण, तीन काल, तीन खण्ड, इच्छा-ज्ञान-क्रिया का त्रय ये सब एक ही पराशक्ति के त्रिवृत विकास के सूचक प्रमाण हैं। ऋग्वेद के पुरुषसूक्त में जब यह कहा गया था कि पुरुष के तीन पाद ऊपर हैं[1], तो उसकी इस त्रिपाद् विभूति से वैदिकों का क्या अभिप्राय रहा होगा, यह विचारणीय विषय है। यह तो निश्चित है कि वेदों में किसी एक परमपुरुष का स्तवन अवश्य किया गया है, किन्तु साथ ही उसकी सर्वातिशायिनी महिमा का भी वर्णन है।[2] योगदर्शन में उस ईश्वर-पुरुष की महिमा का अपौरूषेय बोध रूप शास्त्र से ज्ञान होता है।[3] अतः सामान्य रूप से एक अन्योन्याश्रय सम्बंध सा दृष्टिगत होता है। वे दोनों पारस्परिक अद्वैतता अथवा अभिन्नता के कारण एकरस या समरस हैं।

बहुदेववादी वैदिक साहित्य में पुरुष देवताओं के प्राधान्य को देख कर प्रतीत होने लगता है कि इन्द्रपत्नी इन्द्राणी, वरुण-पत्नी वरुणानी अथवा अन्य सभी देवपत्नियां देवपतियों के आगे कोई महत्व नहीं रखतीं, किन्तु सविता की सावित्री, गायत्री, उषा, वाक् और अदिति के स्वतंत्र स्त्रीदेवता होने के प्रमाण हैं। ऋग्वेदीय देवीसूक्त एवम् अथर्ववेदीय श्रीसूक्त इस बात को पुष्ट करते हैं कि वेदकाल में स्त्री-देवताओं का स्वतंत्र एवम् सर्वोच्च स्थान था। सम्भवतः इसी दृष्टि से देवमाता, देवपत्नी एवम् दक्षसुता अदिति, ब्रह्मभूता आम्भृणपुत्री वाक् एवं ब्रह्मरूपा गायत्री के सामर्थ्य को देखकर ही प्रत्यभिज्ञा शैवमत द्वारा चिति की स्वतंत्रता को ही विश्वसिद्धि का हेतु माना गया है।[4] वैदिक साहित्य की इन तीन प्रमुख देवियों अर्थात् गायत्री, वाक् और अदिति के त्रिक को ही यदि हम त्रिपुरातंत्र की पृष्ठभूमि में मानें तो कोई हानि नहीं। तीनों ही ये देवियां किसी तरह ब्रह्मपुरुष से कम न होकर परासत्ता-रूप ही है। इनका त्रिक ही शांखायन कल्पसूत्र में त्रिपुरोपनिषद् के रूप में प्रकट हुआ है। पुराणों में विशेषतः देवीभागवत, ब्रह्माण्ड पुराण तथा मार्कण्डेय पुराण में देवी-त्रिक-सिद्धांत का विस्तृत उल्लेख है। यही कारण है कि बाद में अगस्त्य एवं नागानन्द कृत शक्तिसूत्रों तथा भारद्वाज कृत धर्मसूत्रों की रचना ब्रह्मसूत्र के मुकाबले में ही है। अथातो ब्रह्मजिज्ञासा[5] के समानान्तर शक्तिजिज्ञासा के सूत्रों की रचना के मूल में हयग्रीव शक्ति को ही ब्रह्म मानते हैं। उसके बाद अद्वैत के परम आचार्य गौड़पाद का "श्रीविद्यारत्नसूत्रम्" एवम् आद्यशंकराचार्य की 'सौन्दर्यलहरी' शाक्ताद्वैत के विकास की एक महत्वपूर्ण अन्य सीढ़ी है।

काश्मीर में कौलों ने अपने कुलाम्नाय के अन्तर्गत त्रिपुरारहस्य आदि तंत्रग्रन्थों के अनुसार जो देवीतत्त्व का स्वतंत्र अवलोकन किया उसी की परिणति बाद में पुण्यानन्दनाथ

के कामकलाविलास, कौलोपनिषद्, शारदातिलक एवम् साहिब कौल के देवीनाम विलास जैसे शक्ति ग्रन्थों में हुई। अभिप्राय यह है कि काश्मीर में ही एक साथ वैदिक एकपुरुष वाद तथा एकशक्तिवाद दोनों इस रूप में विकसित हुए कि आगे बढ़ कर वे दोनों ही एक दूसरे से एकमेक हो गए। शक्ति प्रतिभा सिद्धांत के रूप में शिवप्रिया विमर्श-शक्ति बन गई। इस प्रतिभा के बल पर शिवतत्त्व ने करुणा से जीव की और जीव ने अपनी शिवरूपता की प्रत्यभिज्ञा प्राप्त की। शक्ति ने भी शिव को सौभाग्यरूप में प्राप्त किया और फिर इस विद्या का नाम ही सौभाग्य-विद्या हो गया। सुभगोदयस्तुति या सौभाग्यभास्कर जैसे भाष्यग्रन्थ उसी का साहित्यिक विश्लेषण करते हैं। अतः प्रत्यभिज्ञा दर्शन का प्राणभूत सिद्धांत प्रतिभा है जो प्रमा, वाक् एवम् सौन्दर्य-बोध के रूप में दर्शन, व्याकरण और काव्यशास्त्र में ओतप्रोत हो गया है। अतः तीनों जगह फैली प्रतिभा सम्बंधी परिभाषाओं एवम् धारणाओं का अलग से लघु परीक्षण उचित ही होगा।

मानव मन, अनादि काल से अपने आसपास के परिवेश में इतनी विभिन्नता लिए है कि विभिन्न वस्तुएं, विभिन्न पशुपक्षी, विभिन्न पेड़-पौधे ही नहीं, मनुष्य की जाति, एक होने पर भी प्रत्येक मनुष्य दूसरे मनुष्य से भिन्न है, जिसके विषय में कभी आश्चर्यचकित, कभी मूढ़ और कभी जानने की लालसा से वह अभिभूत होता रहा है। वह कौन सी आधारशक्ति है जिसके कारण प्रत्येक सत्ता विशिष्ट नवीनता लिए हुए है और प्रत्येक क्षण नवीन से नवीन सत्ताओं का उन्मेष हो रहा है। इस पर विचार करते हुए भारतीय दर्शनों ने अपनी व्याख्या देने की कोशिश की है। न्याय-वैशेषिक के अनुसार सात तत्त्वों का पारस्परिक संयोजन-वियोजन और ईश्वरेच्छा इसका कारण है। वेदान्तियों के अनुसार माया की आवरण और विक्षेप शक्तियां इस नवीनता का कारण हैं। लेकिन शैवों के अनुसार प्रकाश विमर्शमय शिव[6] की प्रतिभा-शक्ति ही इसका कारण है। यह प्रतिभाशक्ति शिव से अभिन्न है।[7] क्योंकि शक्ति और शक्तिमान् का अभेद सम्बंध होता है।[8] अब प्रश्न उठता है कि यह प्रतिभा किस प्रकार की शक्ति है। इसका क्या स्वरूप है, इसका क्या प्रयोजन है, इसकी सार्थकता क्या है? इस प्रकार के प्रश्नों का उत्तर पाने के लिए प्रतिभा शब्द का शाब्दिक विश्लेषण करना औचित्यपूर्ण होगा। प्रतिभा शब्द "प्रति + भा + क + टाप्" से मिल कर बना है, जिसका कोशगत अर्थ है प्रज्ञा, दर्शन, दृष्टि, प्रकाश, प्रमा, बुद्धि, मेधा, विशद कल्पना आदि।[9]

भट्टतौत प्रतिभा का लक्षण करते हुए कहते हैं कि प्रज्ञा का नवनवीन उन्मेष (स्फुरण) प्रतिभा है।[10] दिनकरी में महादेव भट्ट लक्षण करते हुए कहते हैं कि बुद्धि की विशेष स्फुरणा ही प्रतिभा है।[11] शब्द कौस्तुभ में लक्षण किया गया है कि वह बुद्धि जो एकदम विषय को ग्रहण कर लेती है, वह प्रतिभा है।[12] लगभग इन्हीं सन्दर्भों में महाभारत[13] और

न्यायसिद्धान्त मुक्तावली[14] में भी शब्द प्रयुक्त हैं। ध्वन्यालोकलोचन में कहा गया है कि अपूर्व वस्तु के निर्माण में सक्षम प्रज्ञा को प्रतिभा कहते हैं।[15]

मानव समाज के विकास का मूल प्रतिभा है, जो अनादिकाल से लेकर वर्तमान काल तक चली आ रही है और भविष्य में भी मानव और मानव समाज के विकास का आधार रहेगी। साहित्य कला, ज्ञान-विज्ञान, दर्शन सब में प्रतिभा का अपने-अपने ढंग से भिन्न-भिन्न रूपों में प्रयोग किया गयां है।[16] ऐसा कहा गया है कि प्रतिभा प्रत्येक व्यक्ति में स्वाभाविक रूप से रहती है।[17] भले ही वह आणवमल, मायिकमल, कार्ममल आदि मलों, माया के कारण या चित्त-विक्षेष के कारण या तीन गुणों के कारण स्पष्ट रूप से प्रतिभासित न होती हो।

प्रतिभा शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग पतंजलि ने अपने योगसूत्रों के तीसरे विभूतिपाद में सिद्धियों की प्राप्ति के लिए विकल्प रूप में रखा है।[18] अर्थात् प्रातिभ ज्ञान उत्पन्न होने से भी समस्त ज्ञान प्राप्त हो जाता है। इस प्रातिभज्ञान से अलौकिक श्रवण, स्पर्श, दर्शन स्वाद, वार्ता एवम घ्राण ये छः सिद्धियां प्रकट होती है।[19] इसी तथ्य को स्वीकार करते हुए तंत्रालोककार ने भी कहा है कि इस प्रतिभा-विज्ञान से क्या-क्या सिद्ध नहीं हो जाता।[20] यही मत सोमानन्द, कल्याण, भवभूति एवम् परात्रिंशिकाकार का भी है।[21] विज्ञान भिक्षु ने अपने योगदर्शन वार्तिक में प्रतिभा को स्वतंत्ररूप से प्राप्त ज्ञान कहा है।[22] योगसूत्र पर लिखित "सांख्य-प्रवचन-भाष्य" में कहा गया है कि वह प्रतिभा प्रकाशक होने से सूक्ष्म व्यवहित, विप्रकृष्ट, अतीतानागत वस्तुओं का ज्ञान कराती है।[23] यही बात "पातंजल योग रहस्य" में भी कही गई है।[24] योगदर्शन में प्रतिभा से आध्यात्मिक शक्तियों की प्राप्ति बताते हुए उसे विवेक से भिन्न माना गया है।[25] तंत्रालोक में कहा गया है कि प्रतिभा वह महाज्ञान है जिसे शास्त्र और आचार्य की अपेक्षा नहीं है।[26] टीकाकार भी इसी तथ्य का विस्तार करते हुए कहते हैं कि इसके स्वयं-प्रकाश एवं ज्ञान के उदित करने के कारण इसके महत्त्व में शास्त्र और आचार्य अपेक्षित हेतु नहीं है।[27] तंत्रालोककार प्रतिभा-ज्ञान को चिन्तामणि के समकक्ष मानते हैं जिसके चिन्तनमात्र करने से सब अभीष्ट वस्तुओं की प्राप्ति होती है।[28] और प्रातिभ ज्ञान को उत्तम कहा गया है।[29] इसी प्रतिभा के कारण देवेश भिन्न-भिन्न क्रियाओं के कर्त्ता बनते हैं।[30] नित्य नवीन से नवीन रचना करने वाली यह प्रतिभा ही है।[31] आचार्य अभिनव की उक्त परिभाषा में रुद्रट से कोई मौलिक अन्तर नहीं दृष्टिगत होता है कि केवल नवनवोन्मेष को नवनवोल्लेख कर दिया गया है।[32]

इसी प्रतिभा शक्ति के कारण पशु को पर-प्रकाश की प्राप्ति होती है और सभी चेतनाचेतन पदार्थ शिवमय ही हैं, – ऐसा अनुभव वह प्राप्त करता है।[33] यह प्रातिभ शक्ति

प्रति व्यक्ति या जीव में भिन्न-भिन्न (प्रस्फुटित, अप्रस्फुटित, अर्द्धस्फुटित) हो सकती है। यह उसके मलों के आधिक्य और कमी पर निर्भर करता है। लेकिन उपायों द्वारा यह शक्ति वैसे ही प्रत्येक पशु, में प्रस्फुटित हो सकती है जैसे भस्म में से निकला हुआ अंगारा, या फिर मानो प्रातिभ रूप बीज का उपाय रूप पानी, मिट्टी आदि उपकरणों से पूर्ण वृक्ष रूप में प्रस्फुटित होना।[34]

प्रतिभा से युक्त पुरुष शक्तिपात द्वारा मायीय मलों का नाश कर देता है।[35] व्यष्टि समष्टि के भेद से प्रतिभा के दो भेद हो सकते हैं। व्यष्टि रूप में यह माणिक्य की तरह है जो केवल आसपास की वस्तुओं को प्रकाशित करता है और समष्टि रूप में यह सूर्य की तरह है जो सारे विश्व को प्रकाशित करता है।[36]

धार्मिक पक्ष में प्रतिभा को स्वातंत्र्यशक्ति माना गया है। भिन्न प्रयोजनों के लिए कर्ममार्ग में जिन 12 देवियों की उपासना की जाती है, प्रतिभा उनमें से एक है।[37] नैतिकता के सन्दर्भ में प्रतिभा ही लोकव्यवहार में प्रमाण बनती है क्योंकि मानवीय क्रियाकलापों के औचित्य को प्रतिभा ही सिद्ध करती है।[38]

वाक्यपदीय में प्रतिभा के 6 प्रभेद माने गए हैं। जन्मजात प्रतिभा, अभ्यास जन्य, साहित्यिक अध्ययन-जन्य, यौगिक प्रतिभा-जन्य और भूतकालिक कर्मों से उत्पन्न अदृष्ट प्रतिभा।[39] आध्यात्मिकता के सम्बन्ध में तथा प्रतिभा के बारे में भर्तृहरि का मत है कि यह सारा स्थूल जगत् प्रतिभा की ही रचना है।[40] हेलाराज ने वाक्यपदीय की टीका के आरम्भ में ही प्रतिभा को परमानन्द माना है और परम सत् माना है।[41]

"कवि की काव्य रचना का आधार प्रतिभा ही है" ऐसा भामह का कथन है।[42] वामन के कथनानुसार प्रतिभा काव्य का बीज है।[43] दण्डी प्रतिभा को काव्य का उद्भव स्थल मानते हैं। नैसर्गिक मानते हैं।[44] आनन्दवर्धन के मत में भी प्रतिभा को कवि की काव्य रचना में संलग्न शक्ति माना गया है जो कवि को महाकवि बनाती है।[45]

कौलोपनिषद् में उल्लिखित है कि इसके प्रकाशित होने से ही यह सब प्रकाशित होता है।[46] तंत्रालोक में प्रतिभा और शाम्भवोपाय में ऐक्य माना गया है।[47] इसी प्रतिभा को, सारे विश्व के प्रकाशित होने का कारण तथा महेश्वर से उसका ऐक्य भी बताया गया है।[48] उत्पलाचार्य भी भास्करी में प्रतिभा और महेश्वर में एक्य का प्रतिपादन करते हैं।[49] इसी मत का प्रतिपादन भट्टचन्द्रानन ने किया है।[50]

अन्यत्र अभिनवगुप्त प्रतिभा और शक्ति को भी एक मानते हैं।[51] महिमभट्ट अपने ग्रन्थ "तत्त्वोक्तिकोश" में प्रतिभा को महेश्वर का तृतीय नेत्र मानते हैं जो कि ज्ञान-शक्ति है

और जिसमें तीनों लोकों को एक साथ धारण कर सकने की क्षमता है।[52] महेश्वर की अपनी इसी स्वातंत्र्य शक्ति के कारण ही यह सब शरीर, वायु इत्यादि प्रस्फुटित होते हैं।[53] यही प्रतिभा-शक्ति जीवन को मलों से निवृत कर शिव रूप में स्थापित कर देती है।[54]

कहना न होगा कि उक्त सभी प्रतिभा-सम्बन्धी परिभाषाएं एक दूसरे से मूलतः अलग न होते हुए भी प्रतिभा के विभिन्न पक्षों का उद्घाटन अवश्य करती हैं। विशेषकर तंत्रालोक में आचार्य अभिनव का दृष्टिकोण तो प्रतिभा- तत्त्व की क्षमताओं को प्रस्तुत करने में नितान्त सफल रहा है।

शैवों और शाक्तों द्वारा इस सिद्धांत पर बल देने से पूर्व कई लोग तो प्रतिभा को कोई प्रमाण ही मानने के पक्ष में नहीं थे। कुछ लोग प्रतिभा की प्रामाणिकता का खण्डन न भी करते तो भी उसे शब्द प्रमाण में अन्तर्भुक्त कर देना चाहते थे।[55] कुछ लोग उसे केवल वाक्यार्थ मानकर ही चलता करने के पक्ष में थे।[56]

यह सत्य है कि उपर्युक्त शब्दार्थ-प्रतिभावादियों या वाक्यार्थ-प्रतिभावादियों के सम्प्रदायों ने प्रतिभा का जो नितान्त लोकसामान्य रूप प्रस्तुत किया था उसमें से कोई गहरी चीज़ नहीं निकल सकती थी। वह एकमात्र मनुष्यमात्र से पशुस्तर तक फैली हुई व्यावहारिकता की प्रकाशन-क्षमता-मात्र थी। इस गौणता से मुक्त करके योगियों और शैवों ने इसे शिवपद पर अभिषिक्त किया तथा उसकी सामान्य लौकिकतामात्र को विलक्षण अलौकिकत्त्व प्रदान कर संपूर्णता से मण्डित कर दिया। वह दिव्यलोकों से अदिव्यलोकों तक में दिव्य-संचार करने लगी।

– सन्दर्भ –

1. त्रिपाद् ऊर्ध्वम् उदैत पुरुषः। ऋग्वेद, 10-90-4
2. तपसस्तन्महिमाऽजायतैकम्। ऋग्वेद, नासदीय सूक्त
3. "योऽसौ प्रकृष्टसत्वोपादानादीश्वरस्य शाश्वतिक उत्कर्षः -- तस्य शास्त्रं निमित्तम्। शास्त्रं प्रकृष्टसत्वनिमित्तम्। एतयोः शास्त्रोत्कर्षयोरीश्वरसत्त्वे वर्तमानयोरनादिः सम्बंधः। एतस्मादेतद् भवति सदैवेश्वरः। तच्च तस्यैश्वर्यं साम्यातिशय विनिर्मुक्तम्।" योग सूत्र, 1-24, व्यास भाष्य।
4. चितिः स्वतंत्रा विश्वसिद्धिःहेतुः। प्रत्यभिज्ञाहृदय, सूत्र-1
5. ब्रह्मसूत्र 1-1, 1
6. "प्रकाशविमर्शमयः शिवः।" कामकलाविलास, 1
7. "शिवः शक्त्यायुक्तो यदि भवति तदा शक्तः प्रभवितुम्।" सौन्दर्यलहरी, श्लोक-1
8. शक्तिः शक्तिमतोरभेदः। वही०, सौभाग्यवर्धिनी, पृ० 3
9. (स्त्री) प्रतिभाति, शोभते इति। प्रति भा क टाप् बुद्धिः प्रत्युत्पन्नमतित्त्वं, नवनवोन्मेषशालिनो प्रज्ञा। हलायुध कोश
10. "प्रज्ञा नवनवोन्मेषाशालिनी प्रतिभा मता।" भारतीय साहित्य शास्त्र, पृ० 435

11. स्फूर्त्याख्यो बुद्धिविशेषः। दिनकरी, 237
12. झटिति विषयग्राहिणी बुद्धिः। शब्द-कौस्तुभ
13. प्रतिभा त्वस्ति मे काचित् ता ब्रूयामनुमानतः। 12-259-1
14. "यया समाप्तिस्तु बुद्धिप्रतिभादिकारणकलापात्।" पृ० 369
15. "प्रतिभा अपूर्ववस्तुनिर्माणक्षमा प्रज्ञा।" 1-6
16. "The pratibha is used in mystical, methaphysical, religious, aesthetical and Psychological context in different meaning but everyone of them has an element in common with rest." Abhinavagupta, by K.C. Pandey. Page 693
17. यन्मूलं शासनं तेन न रिक्तः कोऽपि जन्तुकः। व्युत्पत्तेर्हि प्रतिभात्मकमेव वस्तुमूलम् न च तेन प्रतिभात्मना वस्तुना तिर्यक्प्रायोऽपि कश्चिद् जन्तु स्वोचितव्यापारनैपुण्यान्यथा-नुपपत्त्यतिरिक्तः अतएव "व्यवहाराः प्रतीयन्ते तिरश्चामपि यद्वशात्।" तंत्रालोक, 13-135
18. योग - सूत्र 3-34
19. वही० 3-37
20. इत्थं प्रातिभविज्ञानं किं किं कस्य न साधयेत्।
यत्प्रातिभाद्वा सर्वं चेत्यूचे शेषमहामुनिः।। तंत्रालोक, 13-146
21. गुरुवस्तत्त्वदर्शिनः। श्री सोमानन्दकल्याणभवभूतिपुरोगमाः। तथा हि त्रींशिकाशास्त्रविवृत्तो तेऽभ्यधुर्बुधाः। वही० 13-149, 150
22. प्रातिभं स्वप्रतिबोधं अनौपदेशिकम् ज्ञानम्। योग सूत्र, पृ० 348
23. प्रतिभातः सूक्ष्मव्यवहितविप्रकृष्टातीतानागतज्ञानम्। वही० 3-36 पर सांख्य प्रवचन भाष्य
24. क) तथाह प्रतिभातः सूक्ष्मादि पंचसाक्षात्कारात्मकम् मानसम्।" पातंजल योग रहस्य, 3-36
ख) प्रतिभा उपदेशादि नैरपेक्ष्येण सूक्ष्मादीनाम् मानसम् यदर्थज्ञानम् तत्सामर्थ्यम्।" वही०
25. प्रातिभाद्वा सर्वम्। प्रातिभं नाम तारकं, तद्विवेकजस्य ज्ञानस्य पूर्वरूपं यथोदये प्रभा भास्करस्य। तेन वा सर्वमेव जानाति योगी प्रातिभस्य ज्ञानस्योत्पत्ताविति। योग सूत्र, 3-33
26. तत्प्रातिभं महाज्ञानं शास्त्राचार्यनपेक्षि यत्। तंत्रालोक, 13-132
27. यतोऽस्य स्वप्रतिभात एव एवं ज्ञानमुदियादत एव अस्य महत्वे शास्त्राचार्यमनपेक्षित्त्वं हेतुः। वही०, (टीका)
28. सांसिद्धिकं यद्विज्ञानं तच्चिन्तारत्नमुच्यते।
तदभावे तदर्थं तदाहृतं ज्ञानमादृतम्।। वही० 13-150,151
29. ---- प्रातिभं ज्ञानमुत्तमम्।। वही० 13-166
30. स्वयं बध्नाति देवेशः स्वयं चैव विमुंचति।
स्वयंभोक्ता स्वयं ज्ञाता स्वयं चैवोपलक्षयेत्।। वही० 13-123, 124
31. अतोभेदसमुल्लासकलां प्राथमिकीं बुधाः।
चिन्वति प्रतिभां देवीं सर्वज्ञत्वादिसिद्धये। वही० 10-240
32. अतएव नवनवोल्लेखशालित्वंप्रतिभेत्युक्तम्। वही० 10-211 (टीका)

33. सर्वभाव विवेकात्तु सर्वभावपराङ्मुखः।
क्रीडासु सुविरक्तात्मा शिवभावैकभावितः।
माहात्म्यमेतत्सुश्रोणि प्रातिभस्य विधीयते।
स्वच्छायादर्शवत्पश्येद्वहिरन्तर्गतं शिवम्। वही० 13-114, 115

34. भस्माच्छन्नाग्नि वत्स्फौट्यं प्रातिभे गौरवागमात्।
बीजं कालोप्तसंसिक्तं यथा वर्द्धेत तत्तथा।
योगयागजपैरुग्रैः गुरुणा प्रातिभं स्फुटेत्। वही० 13-11, 176

35. यदा प्रतिभया युक्तस्तदा मुक्तश्च मोचयेत।
परशक्तिनिपातेनध्वस्तमायामलः पुमान्। वही० 13-105

36. स्वमुक्तिमात्रे कस्यापि यावद्विश्वविवेचने।
प्रतिभोदेति खद्योतरत्नतारेन्दु सूर्यवत्। वही० 13-101

37. एकस्य संविन्नाथस्य ह्यान्तरी प्रतिभा तनुः।
सौम्यं वान्यन्मितं संविदूर्मिचक्रमुपास्यते। वही० 1-157, 158
प्रमाणत्वेन तां लोकः सर्वः सुमनुपश्यति।
समारम्भाः प्रतायन्ते तिरश्चामपि तद्वशात्। वाक्यपदीय, 2-147

39. स्वभावचरणाभ्यासयोगादृष्टोपपादिता।
विशिष्टोपहिताचेति प्रतिभां षड्विधां विदुः।। वही० 2-152

40. इदानीं शब्दस्यैव जगन्मूलत्वं प्रपंचयति।
शब्देष्वेवाश्रिता शक्तिर्विश्वस्यास्य निबन्धनो।
यन्नेत्रः प्रतिभात्मायं भेदरूपः प्रतीयते। वही० 1-118

41. धामानन्दसुधामयो तु परसत्तत्प्रातिभं संस्तुमः। वही० (टीका)

42. काव्यं तु जीयते जातु कस्यचित् प्रतिभा-वतः। काव्यालंकार,

43. कवित्व बीजं प्रतिभानम्। वही० 1.3.16

44. नैसर्गिकी वा प्रतिभा श्रुतंच बहुनिर्म्मलम्।
अमन्दश्चाभियोगोऽस्याः कारणं काव्यसम्पदः।। काव्यादर्श, 95

45. सरस्वतीस्वादु तदर्थवस्तु निःस्यन्दमाना महतां कवीनाम्।
अलोकसामान्यमाभिव्यनक्ति परिस्फुरन्तं प्रतिभाविशेषम्। ध्वन्यालोक, 1-6

46. तमेव भान्तमुनभाति सर्वम्।
तस्य भासा सर्वमिदं विभाति। कौलोपनिषद् 5.15 में श्वेताश्वतरोपनिषद् 6-14

47. शाम्भवे प्रतिभात्मनि। तंत्रालोक 13 पृ० 100

48. "या प्रतिभा" इति उपक्रमं सेति वक्तव्ये पुंनिर्देशस्य क आशय इति। बाह्याभास इति चित्तत्वस्य या आन्तरक्रमाभासता सा लोकस्य मायाशक्तिविमोहबलात् न सिद्धिरिति विधीयते। सिद्धं क्रमिकं बाह्यावभासनमद्य "या" इत्यनेन। न च तावन्मात्रतैव विधीयते येन सेति भवेत्। किन्तु "प्रमाता महेश्वरः सा प्रतिभा" इति प्रमातृत्वमाहेश्वर्याभ्यामुप लब्धपरिपोषा, तत एव उपचयबलादेव उचितः पुंस्त्वनिर्देशः। ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृत्ति विमर्शिनी, 1-7-1 भाग-2, पृ० 340

49. या चैषा प्रतिभा तत्तपदार्थक्रमरूषिता।

अक्रमानन्त चिद्रूपः प्रमाता स महेश्वरः।। ईश्वरप्रत्यभिज्ञा 1-7-1

50. पश्यको रूपमालेखाद् भाते भानानुषंगी यत्।
प्रतीपभानं प्रतिभा भावानामात्मसंश्रया।।
ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृत्तिविमर्शिनी, 1-7-1 टीका, पृ० 339

51. अव्युत्पत्तिकृतो दोषः शक्त्या संव्रियते कवेः।
यस्त्वशक्तिकृतस्तस्य झटित्येवावभासते।।
शक्तिः प्रतिभानम्। भारतीय साहित्यशास्त्र, पृ० 306

52. रसानुगुणशब्दार्थचिंतास्तिमितचेतसः।
क्षणं स्वरूपस्पर्शोत्था प्रज्ञैव प्रतिभाकवेः।।
सा हि चक्षुर्भगवतस्तृतीयमिति गीयते।
येन साक्षात्करोत्येष भावाँस्त्रैलोक्यवर्तिनः।
इत्यादि प्रतिभातत्त्वमस्माभिरुपपादितम्।
शास्त्रे तत्त्वोक्तिकोशाख्य इति नेह प्रपंचितम्''।.। व्यक्तिविवेक, पृ० 390, 391

53. तदैवं व्यवहारेऽपि प्रभुर्देहादिमाविशन्।
भान्तमेवान्तरर्थौघमिच्छया भासयेद् बहिः।। यत् पूर्व दर्शितं देहे बुद्धौ इत्यादि तत् एवम् उपपद्यते, कथम्। यदि व्यवहारे मायापदे देहप्राणादिमपि प्रमुख प्रकाश--परमार्थ इच्छाय मायाशक्तिरूपया, आविशन् देहप्राणादि प्राधान्येन स्वरूपं प्रदर्शयन् अन्तः संविन्मात्रे भ्रान्तम् अहमित्येवं रूपं अर्थौघम्, इच्छयैव बहिः इदमिति भासयति तत एतदुपपद्यते। भास्करी खण्ड 1-329

54. तंत्रालोक, 13-186, 187

55. क) प्रतिभा खलु विज्ञानं तच्च शब्देन जन्यते।
न तु शब्दस्य विषयः रूपधीरिव चक्षुषः।।
ख) प्रतिभावादिनः ये स्युः वार्ताक्षौदुम्बरायणाः।
प्रतिभागोचरःशब्दस्तदर्थश्चेति मन्यताम्। मान मेयरहस्यश्लोकवार्तिक, पृ० 575

56. "तत्र चाखण्डपक्षे तु लक्षणेष्वपि च त्रिषु।
प्रतिभा वाक्यार्थ इति तत्स्वरूपं निशम्यताम्।।
विच्छेदग्रहणेऽर्थानां प्रतिभान्यैव जायते।
वाक्यार्थ इति तामाहुः पदार्थरूपापादिताम्।
उपश्लेषमिवार्थमाकरोत्यविचारिता।।
सार्वरुप्यमिवापन्ना विषयत्वेन वर्तते।
प्रमाणत्वेन तां लोकस्सर्वः समुपगच्छति।
व्यवहाराः प्रवर्तन्ते तिरश्चामपि तद्वशात्।
स्वरवृत्तिं विकुरूते मधौ पुस्कोकिलः कथम्।।
जन्त्वादयः कुलायादेः करणे शिक्षिताः कथम्।
आहारप्रीतिविद्वेष प्लवनादि क्रियासु कः।
जात्यन्वय प्रसिद्धासु प्रयोक्ता मृगपक्षिणाम्।। वही, पाद टिप्पणी 49 वही,

षष्ठ उन्मेष
प्रतिभा एवम् वाक्, प्रमा, प्रज्ञा

प्रतिभा एवम् वाक् –

शैव प्रत्यभिज्ञा में चर्चित प्रतिभा तत्त्व का स्फुरण व्यवहार जगत् में तीन रूपों में दिखाई पड़ता है। वाक्तत्व के रूप में, प्रज्ञा के रूप में, सौन्दर्यानुभूति के रूप में। अतः यह प्रतिभा शिव के पास तत्त्वतः एक होते हुए भी इन तीन स्रोतों के रूप में शैवों की त्रिपथगा गंगा की तरह तीनों लोकों को अपने प्रत्यक्ष का विषय बनाती हुई ऋषि, मुनि, कवि, दार्शनिक, वाचस्पति, सन्त एवम् विज्ञानी को जन्म देती रहती है। संस्कृत साहित्य के अध्येता छात्रों का प्रतिभागत प्रथम परिचय वाक्तत्व से ही होता है। "ओं नमः सिद्धम्" से अक्षरारम्भ करके जब वह छात्र कालिदास के रघुवंश के प्रथम सर्गान्तर्गत प्रथम श्लोक "वागर्थाविव संपृक्तौवागर्थप्रतिपत्तयें"[1] से परिचित होता है तो उसे प्रत्यभिज्ञावादी शैव कवि कालिदास के या भामह आदि अन्य काश्मीरी शैवाचार्यों के क्रमशः वागर्थौ या "शब्दार्थौ सहितौ"[2] की बात कुछ भी समझ नहीं आती। शब्द और अर्थ का कैसा सहचार है। क्यों है ? कैसे होता है - ये सब बातें रहस्य बनी रहती हैं। किन्तु श्रीकण्ठपदलाञ्छन शैव आचार्य भवभूति के उत्तर-राम-चरित से परिचय होते ही जिज्ञासु विद्यार्थी का प्रश्न गहरा हो सकता है। मंगलाचरण में ही "वाकं प्रशास्महे" एवम् "विन्देम देवतां वाचममृतामात्मनः कलाम्[3] का पाठ करते ही जिज्ञासा वागर्थौं में से अर्थ को छोड़ कर वाक् के ऊपर केन्द्रित होने लगती है कि यह "वाक्" कौन सी है जिसके आगे भवभूति सरीखा महाकवि नतमस्तक प्रार्थना कर रहा है कि उसे भी आत्मा की उस अमृता कला उस दैवी वाक् की प्राप्ति हो।

क्या आत्मा की अमृता कला के लिए याचना, शैवों की ही प्रतिभा या शिव-दृष्टि के लिए याचना थी। क्योंकि यदि हम स्वीकार कर चलते हैं कि प्रत्यभिज्ञा शैव-साधना का मार्ग संपूर्ण रूप से ही समन्वय, सामञ्जस्य या सामरस्य, आदि शब्द-बिन्दुओं पर टिका हुआ है या फिर नाद-बिन्दु आदि तत्त्वों के विकास-क्रम पर आधारित है तो फिर क्यों नहीं कहा जा सकता कि वैदिकों एवम् तांत्रिकों में बहुत जोर से प्रचलित वाक्तत्त्व की उपासना को ही शैवों ने प्रतिभा के अन्तर्गत कर लिया। अतः वाक् प्रतिभा का प्रथम सूत्र है।

वैदिक वाक् –

पाश्चात्य विद्वानों के अनुसार लैटिन "बाक्स" या भारोपीय भाषा-परिवार में वाक् शब्द का मूल वच् धातु - प्रकृति से है, जिसका अर्थ बोलना-मात्र, ध्वनि एवम् शब्द तीनों से हैं।[4] ध्वनि से सृष्टि मानने वाले विद्वान् जानते हैं कि ध्वनि संपूर्ण सृष्टि का मूल है और

शब्द हमारे सारे वाग्व्यवहार का मूल है। वेद में कहा गया है कि जब सृष्टि का जन्म हुआ तो प्रजापति के साथ और कोई न था केवल वाक् ही उसके साथ दूसरी थी।[5] इस वाक् को ही श्रुति "वाग्वै परमं ब्रह्म" भी कहती है। वेद स्वयं भी तो वाक् रूप है या मंत्र-शक्ति रूप है इस कथन में कोई अन्तर नहीं। वेद में ही यह बात स्वीकार की गई कि यह वाक् एक ऐसी महाशक्ति है जिसके ज़रा से दुरूपयोग से भौतिक विनाश भी हो सकता है। वह मेघों की विद्युत के समान प्रकाशरूपा होते हुए वज्ररूपा भी हो उठती है।[6]

कहा जा सकता है कि ब्राह्मण ग्रन्थों एवम् उपनिषदों के ऋषियों को पूर्ण बोध हो चुका था कि इस वाक् के तीन रूप हैं – पर, सूक्ष्म और स्थूल। इस में परावाक् ही कारणरूपा है जो शुद्ध चिति या ज्ञानरूपा है। सूक्ष्मवाक् ही बाद में पश्यन्ती बन गई है जिसमें शुद्धचिति में सृष्टिकर्म का ईक्षण रूप संकल्प (एक से अनेक होने का संकल्प) शामिल हो गया। वेदान्तियों की ईश्वरावस्था की इसके साथ तुलना की जा सकती है। वही वाक् स्थूल रूप में मध्यमा होती हुई स्थूल नाद के रूप में मेघों के रव में, सरस्वती आदि नदियों के नाद में, पक्षियों के कलरव में, तथा गऊओं के हम्बारव या रंभाने में प्रकट हुई। वाक्तत्त्व की इसी स्थूल अभिव्यक्ति को देखकर ही सम्भवतः सरस्वती को "पावीरवी" अर्थात् अन्तरिक्षीय विद्युत-वज्र की पुत्री कहा गया।[8] वेदान्तियों के हिरण्यगर्भ और शाक्तों की मातृका के उदय की यही प्रथम भूमि है। आगे चलकर इसी के गर्भ से मनुष्यों के कण्ठ से लेकर ओठों तक में पैदा होने वाली वैखरीवाक् या मानवीय भाषातत्त्व का विकास हुअ। वस्तुतः मध्यमा और वैखरी को एक ही स्थूल कोटि में रखा जा सकता है।[9] उससे वैदिकों के वेदत्रयी - सिद्धांत को, तांत्रिकों के शाक्त त्रिकोण को तथा प्रत्यभिज्ञा - शैवों की इच्छा-ज्ञान-क्रियात्रयी को एक साथ मिलाकर अध्ययन किया जा सकता है।

उपरोक्त संक्षिप्त अध्ययन के फलस्वरूप भी यह कहा जा सकता है कि वेदों का वाक्तत्त्व मूलतः ब्रह्म की वैलक्षण्यपूर्ण महिमामयी मायाशक्ति है जो ब्रह्मा, विष्णु, रूद्र संपूर्ण देवसमुदाय एवम् समस्त चराचर जगत् को अपने में समाए हुए है। इसी को वैयाकरण दार्शनिकों का शब्द-ब्रह्म तथा प्रत्यभिज्ञानी शैवों के शिव का उल्लास कहा जाता है। यह महाशक्ति ब्रह्म अथवा शिव के साथ समवाय सम्बंध से, तादात्म्य सम्बंध से अथवा किसी अनिर्वचनीय सम्बंध से एकीभूत होकर रहती है। इसी से प्राचीनतम उपनिषदों में इसका महत्व-गान इन शब्दों में किया गया है।" "वाचैव सम्राड् ब्रह्म ज्ञायते, वाग्वै सम्राट् परमं ब्रह्म।"[10] इसी वाक्तत्त्व ने जब पुराण एवम् महाकाव्य-काल में भगवती सरस्वती का रूप ग्रहण किया तो व्यास ने इसी को "वेदानाम् मातरम्" कहा। तैत्तिरीय ब्राह्मण में भी वैसे यह बात पहले कही जा चुकी थी कि वाक् जो है अनश्वर है, ऋत की प्रथम प्रसूति है और वेदों की माता है। "वागक्षरं प्रथमाजा ऋतस्य वेदानां माता अमृतस्यनाभिः।"[11]

उपरोक्त तथ्यों से एक अन्य बात की भी पुष्टि होती है कि "वेद" शब्द, जो आज कल के लोगों में ज्ञान शब्द का ही पर्यायवाची मात्र बन गया है वह उचित नहीं। क्योंकि वाक्तत्त्व को ही प्राचीन लोग श्रुति या अपौरुषेय वाक्य मानते हैं। महाभारत भी इस बात की पुष्टि करता है कि सरस्वती या वाक् ही वेदों की माता है और वहीं मानव-चेतना में शाश्वत रूप में स्थित है – "वेदानां मातरं पश्य मत्स्थां देवीं सरस्वतीम्।[12] पुराणों की इसी वेदमाता के चार पादों में संपूर्ण चराचर का विकास और ह्रास का क्रम दिखाते हुए लोगों ने कभी इसको वेदों की त्रिपदी या चतुष्पदी ही नहीं अपदी गायत्री से भी मिला दिया है।[13] चतुष्पात् या "त्रिपात्" की बात ऋग्वेद के पुरुष सूक्त में भी आई थी और "चत्वारि वाक्परिमिता पदानि तानि विदु ब्रांह्मणा ये मनीषिणः। त्रीणि गुहा निहिता नेङगयन्ति तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति[14] में भी आई है और "गायत्रयस्येकपदी द्विपदी त्रिपदी चतुष्पदी[15] में भी आई है। तो इस सबको देखकर इतना तो कहना ही होगा कि वेदों के "चतुष्पात्" पुरुष या ब्रह्म की पराशक्ति वाक् या गायत्री धेनु या गौ भी चतुष्पदी है। दोनों की इस समरसता को देखकर ही प्रत्यभिज्ञा शैवों को शिवशक्ति सामरस्य की बात सूझी होगी, तथा वाक्तत्त्व को ही शैवी प्रतिभा में परिणत कर दिया। प्रस्तुत सन्दर्भ में हमारा मन्तव्य इतना ही है कि परापर तत्त्व का साक्षात्कार कराने वाली वाक् जैसे केवल स्थूल ध्वनिमात्र नहीं है अपितु परमानन्दरूपा एवम् परज्ञानमयी है वैसे ही शैवी प्रतिभा भी केवल स्थूल बोधमात्र ही नहीं पर शब्दमयी परम-प्रकाश की विमर्शमयी शक्ति है जो कवियों को ज्ञानियों को पर शब्द या परज्ञान अथवा परादृष्टि का प्रसार देती है।[16]

काश्मीर शैव तो वैसे भी दूसरे शैवों से इसलिए भिन्न हैं कि वे वैदिक ज्ञान या परम्परा के ग्रहण के साथ वेद के अर्थ, पद एवम् छाया को भी आत्मसात् करते हैं। वैदिक प्रजापति से ही शैवों के पशु-पति का रूपान्तर से सम्बन्ध है। वैदिक सोम एवम् सोमलता ही शैवों के श्रेष्ठतम प्रतीक हैं। अतः वैदिकी वाक् का शैव या शाक्ततंत्रों में विकास ढूंढना न्यायोचित ही ठहरता है। फिर यह भी महत्वपूर्ण है कि एक ही यह वाक्तत्त्व है जो वैयाकरणों में गहन पद समीक्षा से शब्द- तत्त्वं यद्क्षरम्" में समा रहा था, दार्शनिकों में "विज्ञानं ब्रह्म" से "प्रज्ञानं ब्रह्म" तक अनुशीलित हो रहा था, तथा भरतमुनि आदि जैसे नाट्य एवम् साहित्य-शास्त्रियों के लिए रंगमंच और काव्य में रसतत्त्व में परिणत हो रहा था, वही वैदिक वाक्तत्त्व विभिन्न धाराओं में शताब्दियों तक बिखरने के बाद वसुगुप्त, सोमानन्द, उत्पल, अभिनंव आदि प्रत्यभिज्ञा के आचार्यों के साहित्य रूप श्रद्धा-पात्र में समन्वित होकर एक नई आभा को लेकर नए सामञ्जस्य के साथ समरस हो उठा।

अथर्ववेद में कामतत्त्व को सभी देवताओं में से श्रेष्ठतम कह कर वाक् को उसकी पुत्री कहा गया है और कहा गया है कि यह कामपुत्री वह गौ है जिसे वाक् विराट या विश्वरूपा

वाक् कहा गया है।[17]" इसी में शैवों की इच्छा या काम को मिला देने पर "विवक्षा" बन जाती है। उसी में ज्ञान के मिलते ही वह जिज्ञासा बन जाती है और उसी में क्रिया के मिलते ही चिकीर्षा बन जाती है। अतः मूलतः वैदिक वाक् भी कामपुत्री है और शैवी प्रतिभा भी परमशिव की संकल्प या इच्छामयी विश्वतोमुखी शक्ति है। दोनों में इस साम्य को हृदयस्थ करके ही महार्थमंजरीकार कहते हैं – "एता एव चिदानन्देच्छाज्ञानक्रियाख्याः शक्तयः परा सूक्ष्मा पश्यन्ती मध्यमा वैखरीति वाग्रूपाश्चानुभूयन्ते। यतश्चिच्छक्तिस्तावत् परमेश्वरस्य चैतन्यलक्षणा सर्वनिर्वाहकत्वपर्यायपरमस्वातंत्र्यमयी–व्योमवागीश्वरी।[18]

कहा जाता है कि काश्मीर में शिवशक्ति-कुल के तीन ही प्रमुख संप्रदाय रहे हैं – क्रम-सम्प्रदाय, कौल और प्रत्यभिज्ञा। इनमें क्रम का मुख्य सम्बंध पूजा-पद्धति क्रम से है। अतः इसे कालीनय भी कहा जाता है। इसमें शाक्तोपाय की ही प्रधानता है। लेकिन कौलों में शाम्भवोपाय की प्रधानता है और अहम् पदार्थ पर चिन्तन करते रहने से स्वतः परम-प्राप्ति हो जाती है। फलतः कर्मकाण्ड के मात्र व्यवस्थावादी क्रम पर वह निर्भर नहीं करता। प्रत्यभिज्ञा इन दोनों से इस दृष्टि से भिन्न है कि वह छतीस तत्त्वों से सम्बद्ध होते हुए भी "शिवोऽहम्" इस पहचान या प्रत्यभिज्ञा पर बल देता है। लेकिन कुल मिलाकर देखा जाए तो तीनों ही ये काश्मीरी संप्रदाय खुले मन से वाक्तत्त्व की उस महनीयता को स्वीकार कर के चलते हैं जो अंततः प्रतिभारूपा ही हो जाती है। रत्नत्रय ग्रन्थ में वाक् का पश्यन्ती के रूप में वर्णन करते हुए कहा गया है –

अविभागेन वर्णानां सर्वतः संहतिक्रमात्।
स्वयंप्रकाशा पश्यन्ती मायूराण्डरसोपमां।
स्वरूपज्योतिरिवान्तः सूक्ष्मा वागनपायिनी।
यस्यांदृष्टस्वरूपायामधिकारो निवर्तते।।[19]

और भी "अन्तः संजल्परूपा तु न श्रोत्रमुपसर्पति।"[20] किन्तु ये सब तो वाक् तत्त्व की वृत्तियां हैं।[21] जो वाग्ब्रह्म या कुण्डलिनी तत्त्व है, प्रतिभा का मूल निवास-स्थान वही है जिसके बारे में कहा गया है - शब्दतत्त्वमघोषावाग्ब्रह्म कुण्डलिनी ध्रुवम्। विद्याशक्तिः परा नादो महामायेति देशिकै :।[22]

वस्तुतः उपरोक्त तीनों काश्मीर संप्रदायों का वाग्ब्रह्म महत्वपूर्ण विषय रहा है। भर्तृहरि या परवर्ती नागेश भट्ट के पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी क्रम को स्वीकार करके भी प्रत्यभिज्ञा-दर्शन के प्रमुख आचार्य सोमानन्द ने उसी की आलोचना की है और वे परावाक् को और शामिल करने को कहते हैं। क्रम-संप्रदाय वाले लोग परा और पश्यन्ती के बीच एक और भेद रखने को कहते हैं– उसका सूक्ष्मा नाम है।[23] किन्तु इस प्रकार के वाक्तत्त्व

के वर्गीकरण की बात तो शैवागम में बहुत ही सामान्य बात है। उसका विशेष विश्लेषण प्रत्यभिज्ञा के आचार्यों ने किया है।

वाक्तत्त्व के लिए मातृका शब्द का प्रयोग प्रायः शैवों में हुआ है। वसुगुप्त "शिवसूत्राणि" में एक घोषणा सी करते हुए कहते हैं कि "हमारे समस्त ज्ञानों का आधार मातृका ही है।[24] उसी की व्याख्या में शिवसूत्र-वार्तिक थोड़ा आगे बढ़ कर कहता है कि अभेद-प्रथात्मक पर-ज्ञान और भेद-प्रथात्मक अपर ज्ञान का अधिष्ठान मातृका ही है।[25] लेकिन यह मातृका अक्रमा और सक्रमा दोनों प्रकार की है। तात्पर्यदीपिकाकार कहते हैं कि अक्रमा मातृका का रूप परा और पश्यन्ती से भी परे बिन्दुनादात्मक है।[26] यही पारमेश्वरी क्रियाशक्ति अज्ञात मातृका होने के कारण अक्रमा मातृका कही जाती है। यही समस्त वाच्यवाचकात्मक वाङ्मयाभासरूप होने से सक्रमा मातृका का रूप ग्रहण करती है। अतः तत्तत् पदार्थों के क्रम से प्रतिच्छादित प्रतिभा भी सक्रमा मातृका के अतिरिक्त और कुछ नहीं।[27] नेत्रतंत्र का यह विचार यहां इसलिए महत्वपूर्ण है कि यह स्पष्ट ही शैवों की प्रतिभा को सक्रमा मातृका यानि परा, पश्यन्ती, मध्यमा, वैखरी रूपा घोषित कर देता है। प्रत्यभिज्ञा शैवों के ही सम्बंधी समयमत के शाक्तगण भी मातृका शब्द की व्युत्पति करते हुए कहते हैं – "सैव च माति, तरति, कायतीति व्युत्पत्र्या मातृकेत्युच्यते।[28]

लेकिन यह मातृका है क्या? इस विषय में भास्कर-राय-मखिन कहते हैं – "स्फुरणान्वयि ज्ञानमेव प्रकाशामिधं ब्रह्म तच्च सर्वज्ञत्व-सर्वेश्वरत्व-सर्वकर्तृत्व पूर्णत्व व्यापकत्वादि शक्ति संवलितं x x x पराहन्ता, विमर्शः परालिताभट्टारिका त्रिपुरासुन्दरीत्यादि पदैः व्यवह्नियते।"[29]

यह स्फुरण से अन्वित ज्ञान प्रतिभा से अतिरिक्त कोई अन्य वस्तु नहीं हो सकती। लेकिन यही स्फुरण जब मानव कण्ठ या देह में प्रकट होता है तो उसे वैखरी वाक् या वर्णमाला धारण किए हुए मातृका कहा जाता है। अभिनव कहते हैं "विखरे शरीरे भवत्वात वैखरीपदाभिधेया।[30] स्पन्दकारिका के तीसरे निष्यन्द में भी यह स्वीकार किया गया है कि ज्ञान का उद्भव शब्दानुवेध के बिना नहीं हो सकता और यह शब्द शिव की क्रियात्मिका शक्ति है जो जीवों में तो बन्धन पैदा करती है किन्तु यही शक्ति स्व की ओर उन्मुख होकर ज्ञान और सिद्धि का उपपादन करती है।[31] इस कथन से यह तो सिद्ध होता है कि शैवों में वाक्तत्त्व यानि शिव की क्रियाशक्ति ज्ञानशक्ति से संवलित रूप में सदा ही स्थित है। इच्छा, ज्ञान, क्रिया के सामरस्य में प्रतिभा का पूर्णोदय है।

इसके अतिरिक्त मंत्र शास्त्र के दृष्टिकोण से भी प्रत्यभिज्ञा मत में सर्जनशील प्रतिभा शक्ति का विशेष विवेचन मिलता है। षडध्वा के विवेचन में कालाध्वा के अन्तर्गत वर्ण,

मंत्र और पद का अध्ययन किया गया है तथा देशाध्वा के अन्तर्गत कला, तत्त्व और भुवन का विवेचन है। वर्ण, मंत्र और पद को यदि वाक्तत्त्व का ही प्रसार माना जाए तो स्वतः ही वेद, शास्त्र, पुराण आगम आदि का संपूर्ण ज्ञान मंत्रात्मक वर्णात्मक या पदात्मक होने से, ऋषि-प्रज्ञा से लेकर नए कवियों तक के सारे ज्ञान को अपने में समेट लेने से वाक्तत्त्व ही प्रतिभा कहलाएगा। श्रीतंत्र सद्भाव का शिवसूत्रविमर्शिनी में उद्धरण देते हुए कहा गया है कि सारे मंत्र ही वर्णात्मक हैं और वर्ण शक्त्यात्मक हैं और मातृका हैं और मातृका शिव रूपा हैं।[32] इस प्रकार हम कह सकते हैं कि शैवागम में प्रत्यभिज्ञा के ग्रन्थों में चाहे हम तंत्रालोक[33] को लें या ईश्वर प्रत्यभिज्ञा[34] को, स्वच्छन्दोद्योत को लें या परात्रिंशिका को, सर्वत्र वाक्तत्त्व को चिदात्मिका कुण्डलिनी शक्ति को मंत्रवर्णमयी स्फुरत्ता के रूप में स्मरण किया गया है। कुण्डलिनी का यह जागरण शब्द और अर्थ का सामरस्य या प्रतिभा का उन्मेष नहीं है तो प्रत्यभिज्ञा में और क्या है। श्री-पूर्व-शास्त्र को उद्धृत करते हुए आचार्य अभिनवगुप्त तंत्रालोक में लिखते हैं – 'तां परां प्रतिभां देवीं संगिरन्ते ह्यनुत्तराम्'।[35]

इस प्रकार हमें यह स्पष्ट हो जाता है कि सामञ्जस्यवादी प्रत्यभिज्ञा शैवगण अपनी वैदिक और लौकिक परम्परा में सहस्राब्दियों से चले आ रहे विभिन्न ज्ञानों एवम् विज्ञानों का भंगीभेद से प्रतिपाद्य विषय केवल परमशिवता को ही मानकर उन सब ज्ञानों को शिव-दृष्टि में ही केन्द्रित कर रहे थे।[36] इस महाकर्म में उनको जो सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण प्रतीत हुआ वह था प्रतिभा का सिद्धांत। इसमें वैदिकों और वैयाकरणों की वाक्, दार्शनिकों की ज्ञान-मीमांसा तथा सौन्दर्यवादी रस के आचार्यों एवम् शाक्तों के कामतत्त्व का एक ही जगह एक ही साथ अर्थात् युगपद्भाव से समन्वय हुआ। इसी कारण परमशैव गन्धर्वराज पुष्पदन्त के स्वर में ही आचार्य अभिनव का भी स्वर मिल जाता है और वे कहते हैं –

तीर्थक्रियाव्यसनिनः स्वमनीषिकाभिरुत्प्रेक्ष्य तत्त्वमिति यद् यदमीवदन्ति।
तत्तत्त्वमेव भवतोऽस्ति न किंचिदन्यत् संज्ञासु केवलमयं विदुषां विवादः।।[37]

प्रतिभा एवम् प्रमा, प्रज्ञा –

अभी तक हम प्रतिभा के अतिभौतिक या अतीन्द्रिय रूप पर ही अधिकतर बल देते आ रहे हैं, जैसे कि आर्ष प्रतिभा और योगियों की लोकोत्तर प्रतिभा का सीधा सम्बंध दिव्य ज्ञान या अपौरुषेय ज्ञान से ही है। लेकिन इस प्रतिभा का स्फुरण पौरुषेय ज्ञान से न मानेंगे तो अनर्थ हो सकता है। लोक और वेद के बीच में जो खाई पड़ जाएगी उसे क्या समन्वय से जोड़ा जा सकेगा। अतः हमारे यहां के दार्शनिकों ने जिस प्रकार अपनी ज्ञान-मीमांसा में घट-ज्ञान या पट-ज्ञान को ईश्वर-सम्बंधी अलौकिक ज्ञान से अथवा घटाकाश और मठाकाश को परमाकाश या ब्रह्माकाश से जोड़ा है, वह यह सिद्ध करता है कि प्रतिभा की लोकोत्तरता

का एक लौकिक रूप भी होना चाहिए जो सामान्य जीवन में व्यवहार में साथ रहता हो। इस दृष्टि से प्रतिभा का लौकिक रूप सामान्य व्यक्ति में पूर्वानुमान या प्रत्याशित ज्ञान अथवा घटनाओं को पहले से जान् लेने की क्षमता के रूप में विकसित होता रहता है। पुरानी पीढ़ी के भारतीय दार्शनिक प्रतिभा को भी एक प्रमाण मानते हुए उसको "श्वस्ते भ्राता गन्ता"[38] का उदाहरण देकर समझाते हैं। यदि यह पूर्वानुमान किसी घटना विशेष पर आधारित न होकर व्यक्ति के पूर्व संस्कार पर आधारित है और उस पूर्व संस्कार का वर्तमान से सम्बंध जुड़ जाता है तो प्रत्यभिज्ञा बन जाती है।[39]

लेकिन यदि आप पूर्वसंस्कार के बल पर नए-नए भविष्य को पढ़ पाने की क्षमता प्राप्त कर लेते हैं तो वह प्रतिभा-प्रमाण माना जाएगा। यह प्रतिभा पुराने गांव के लुहार, बढ़ई, चमार, कुम्हार, नाई, धोबी, भण्ड, धूर्त, चोर, जार से लेकर आधुनिक युग के विमान, मोटरकार, रिक्शा, स्कूटर चालकों से लेकर इंजिनियर, स्थपति अथवा कल पुर्ज़ों की प्रत्येक तकनीक प्रयोग करने वाले सामान्य व्यक्ति में एण्टिसिपेट करने या पूर्वानुमान करने की क्षमता के रूप में विकसित रहती है। अतः दार्शनिक लोग यदि प्रत्यक्षादि प्रमाण-समुदाय के अनुसार इस रूप में प्रतिभा को भी प्रमा का साधक एक प्रमाण ही मानें तो कोई आश्चर्य वाली बात नहीं होगी। क्या दार्शनिकों के प्रमाण शब्द के व्यवहार और तांत्रिकों-आगमिकों के मातृका शब्द के व्यवहार को एक स्वर में नहीं बिठाया जा सकता। "ज्ञानाधिष्ठानं मातृका" का कथन दर्शनों के शब्द-प्रामाण्यवाद से भिन्न तो नहीं है। यह सत्य है कि आगम-तंत्र में सारा बल शब्द-तत्त्व या वाक्तत्त्व पर ही आ गया क्योंकि सारे ज्ञानों का मूल आधार ही भाषा है।[40] बिना भाषा का चिन्तन सम्भव ही नहीं।[41] इसी से वैयाकरणों के स्वर में दण्डी कवि ने कहा होगा कि यदि शब्द नामक ज्योति न होती तो ये तीनों भुवन अन्धकार में ही डूब कर रह जाते।[42] वस्तुतः शब्दानुगम या शब्दानुवेध के बिना हमारा कोई भी ज्ञान उदित नहीं होता। फलतः शब्द और ज्ञान या यथार्थानुभव को हम पृथक् मानने की स्थिति में नहीं हैं।

मेरा विचार है कि प्रमा के विषय में नैयायिकों ने विचार करते हुए उसके लोकोत्तर पक्ष की अपेक्षा व्यावहारिक पक्ष पर अधिक बल दिया। अनुभव की और प्रमा की विस्तृत जानकारी देते हुए जो लक्षण उपादेय हैं वे "यत्र यदस्ति तत्र-तस्यानुभवः प्रमा" "यदर्थविज्ञानं सा प्रमा" "यथार्थानुभवः प्रमा" आदि वाक्यांश लौकिक प्रमाण व्यवहार पर ही बल देते हैं। इसी लौकिक प्रमा को साथ लेकर वेदों में अपौरुषेय ज्ञान का स्वरूप खुल सकता है।[43] यही नैयायिकों का सदा अभिमत रहा है। सही तर्क, किसी भी पूर्वाग्रह से रहित तर्क, जिज्ञासा एवम् अनुसंधान के क्षेत्र में होता हुआ निश्रेयस के ही क्षेत्र में अवश्य ले जाएगा। वहां धर्म का साक्षात्कार हो जाने से ऋषि-प्रज्ञा का विकास हो सकता है। इस दृष्टि का उन्मेष मीमांसकों में तो और भी अधिक हुआ। उन्होंने प्रमा को "अज्ञाततत्त्वार्थ ज्ञानम्"[44] कह कर प्रमा के

कारण-भूत प्रमाण का भी तदनुकूल ही लक्षण किया - "कारणदोषबाधक ज्ञानरहितम् अग्रहीत ग्राहि ज्ञानं प्रमाणम्[45] अर्थात् जिसके उत्पन्न करने वाले कारणों में कोई दोष न हो, जो किसी दूसरे ज्ञान से बाधित न हो तो जो पहिले से न जाने हुए पदार्थ को बता दे, वही प्रमाण है।

यहां हमारा प्रतिपाद्य इतना ही है कि वैशेषिक, न्याय, मीमांसा ये तीन ऐसे दर्शन रहे हैं जो साधारण लोकजीवन में सद्गृहस्थ की तरह जीते हुए प्रमा के सामान्य रूप को ही शास्त्राभ्यास के जल से निरन्तर धो पोंछ कर उसे अपौरुषेय श्रुति के अनुकूल बनाकर उसी में से प्रतिभा का निर्मल सारस्वत रूप ढूंढ लेते हैं। अतः उनके मत में भी प्रतिभा केवल व्युत्पन्नमतित्व तक या बौद्धिक स्फूर्ति तक ही सीमित नहीं अपितु लोकोत्तर प्रकाश तक फैलती चली जाने वाली चेतना-विशेष है। जगत् का समस्त प्रमाण-प्रमेय व्यवहार उसी का स्फुरण है। (हां, मूलतः वे रैशनलिस्ट हैं।)

अब हम यदि दूसरे भारतीय दर्शनों को लें तो उनमें से श्रुति-सम्मत या श्रुति-विरोधी दोनों ही दर्शन जीवन की स्वाभाविक उपलब्धियों से असंतृप्त होते हुए आन्तरिक जीवन के वैलक्षण्य की खोज में अन्तश्चेतना के स्तर पर स्तर लांघते हुए लोकोत्तर जीवन की खोज में बहुत कुछ खोज लाए हैं। उसी में से सांख्यों, जैनों, बौद्धों, वेदान्तियों और योगियों के प्रज्ञामूलक या प्रतिभा-मूलक (इन्टयूशनिस्टिक) अनुभूतियां हैं। चाहे जैनियों का केवल-ज्ञान है, तो चाहे बौद्धों की प्रज्ञा के पारमिता आदि विविध रूप, चाहे सांख्यों का केवल-ज्ञान है तो चाहे वेदान्तियों का अखण्डबोध, चाहे योगियों की ऋतभरा प्रज्ञा या समाधि, सभी दार्शनिकों की प्रमाओं के स्वरूप लोकोत्तरता की ओर ही अधिकाधिक उन्मुख हैं। अतः हम इस बात को स्वीकार करते हैं कि भारतीय दर्शनों में प्रमा के जो दो रूप मिलते हैं, जिनमें से एक लोकव्यवहार में सामान्य प्रमाणों के जरिए प्रतिभासित होने वाला रूप है और दूसरा तत्त्वोन्मेष-परक चेतना का सहज आन्तर स्फुरण है। पहले को हम "अपर" दूसरे को 'पर' कह सकते हैं। लेकिन दोनों रूपों का ही लक्ष्य जीवन के बाह्य और आन्तरिक रूपों को प्रकाशित करना है। पहले अखण्डता को सखण्डता में प्रकाशित कर नानात्व की सृष्टि करना है, जैसा कि वेदान्तियों की माया का काम है। इस रूप में प्रमा और माया का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ एक ही तथ्य को प्रकाशित करेगा। किन्तु प्रमा का दूसरा रूप जो सखण्डता में अखण्डता को प्रकाशित करने लगता है उसमें अधिष्ठान - चैतन्य का ही अधिक उन्मेष रहने से, अद्वैतवेदान्तमत में संवित्-तत्त्व कहला सकता है। यह संवित् अखण्डाकार वृत्ति से निश्चय ही भिन्न है। अखण्डाकार वृत्ति में जहां चित्त के पूर्ण तत्त्व का उद्रेक है और सत्त्व में आत्मैक्य का प्रतिफलन है। वहां संवित् कोई चैतसिक वृत्ति नहीं अपितु भेदमय जगत् में सर्वत्र चित्ता का स्फुरण है, जिसके बिना भेद-पदार्थ भी सब के सब अज्ञेयता के

अन्धेरे में डूब जाएंगे। स्वामी विद्यारण्य ने संवित् के विषय में ही पंचदशी ग्रन्थ में पहले अध्याय का विनियोग करते हुए कहा है –

मासाब्दयुगकल्पेषु गतागम्येष्वेनेकधा।
नोदेति नास्तमायाति संविदेषा स्वयंप्रभा।[46]

हम समझते हैं कि शैवी प्रतिभा के समानान्तर यदि अद्वैत-वेदान्त में कोई तत्त्व है तो वह संवित् ही है। संभव है यह संवित् की धारणा विद्यारण्य जैसे प्रतिभाशाली पण्डित के पास 14 वीं शताब्दी के आसपास प्रत्यभिज्ञा - दर्शन से सम्पर्क के परिणाम स्वरूप ही आई हो। लेकिन निश्चय ही इस प्रकार की धारणा प्राचीन उपनिषद् सिद्धान्त के अनुसंधान का फल है। क्योंकि उपनिषदों में प्रज्ञा या अन्तर्दृष्टि के उन्मेष पर स्थान-स्थान पर बल दिया गया है तथा प्रमा के तर्कनिष्ठ लौकिक रूप को तत्त्व-ग्रहण में असमर्थ बताया गया है – "नैषा तर्केण मतिरापनेया"। कठोपनिषद्, 1-2-9

उपनिषदों में प्रज्ञा का स्वरूप –

डा० राधाकृष्णन् कहते हैं कि "बुद्धि का लक्ष्य उस ऐक्य रूप वस्तु की खोज करना है जिसमें विषयी एवम् विषय दोनों एक साथ समाविष्ट हों। तर्क एवम् व्यावहारिक जीवन दोनों का ही क्रियात्मक सिद्धान्त है - कि इस प्रकार की एक ऐक्य-रूप वस्तु है उसके घटकों का पता लगाना दार्शनिक प्रयास का उद्देश्य है। किन्तु बुद्धि के अपने अन्दर उस पूर्ण को ग्रहण करने की योग्यता के अभाव के कारण यह प्रयास विफल रहकर हमें निराशा की ओर अग्रसर करता है। बुद्धि नाना प्रकार के प्रतीकों एवम् रूढ सिद्धांतों, सम्प्रदायों और रूढ़िगत परम्पराओं के कारण परमसत्ता को ग्रहण करने के लिए अपर्याप्त है। [47]

अतः बार बार श्रुति कहती है। कि उस ब्रह्म तक न पहुंच कर, वाणी और मन दोनों ही वापस लौट आते हैं।[48] याज्ञवल्क्य एवम् गार्गी के सवांदों में अथवा जहां कहीं भी ब्रह्म वर्णन का प्रसंग आया है वहीं पर मनुष्य के भीतर की उस अन्तर्दृष्टि का स्मरण किया गया है जो बुद्धि-कृत भेदों या तर्कों के ऊपर उठकर परमार्थ तत्त्व तक को भी सहजता से ग्रहण कर लेती है। जो कुछ भी परोक्ष होता है वह प्रत्यक्ष हो जाता है और जो कुछ भी अज्ञात होता है वह ज्ञातकोटि में आ जाता है।[49] अतः उपनिषद् बार-बार इस बात पर बल देते हैं कि बहुत ज्यादा वाग्जाल में नहीं पड़ना चाहिए क्योंकि उससे वाणी को व्यर्थ ही श्रम करना पड़ता है।[50] वह सब वाणी का विग्लापन मात्र बन कर रह जाता है। बहुत ज्यादा तीक्ष्ण बुद्धि या पुस्तकीय ज्ञान अथवा अध्ययन से भी बात बनती नहीं। अतः इसी सन्दर्भ में हम डा० राधाकृष्णन् के उपनिषदों के बारे में दिए गए इस कथन को उद्धत करते

हैं कि "यौगिक अन्तर्दृष्टि का मूक रूप अव्यक्त है। जिस प्रकार एक जन्मान्ध को हम इन्द्रधनुष की सुन्दरता नहीं समझा सकते, न सूर्यास्त का सौन्दर्य समझा सकते हैं, ठीक उसी प्रकार एक ऐसे लौकिक व्यक्ति को जिसे योगसमाधि का अनुभव न हो उसे यौगिक साक्षात्कार की व्याख्या करके नहीं समझाया जा सकता। यौगिक साक्षात्कार का अन्तिम संदेश यह है कि ईश्वर ने यह मेरे मस्तिष्क में डाला और मैं इसे तुम्हारे मस्तिष्क में नहीं डाल सकता।[51] लेकिन इस अन्तर्दृष्टि का बुद्धि के रूपों के साथ कोई नितान्त विरोध नहीं है। इसके लिए बुद्धि के निषेध की आवश्यकता भी नहीं, क्योंकि उसकी अनुपूर्ति की आवश्यकता भी है। क्योंकि अन्तर्दृष्टि के ऊपर जिस दर्शन-पद्धति का आधार हो, जरूरी नहीं कि वह तर्क एवम् बुद्धि के विपरीत ही हो। अतः उपनिषदों का प्रज्ञामूलक चिन्तन आपाततः बुद्धि-विरोधी दिखता हुआ भी पैर-पैर पर लोक-सामान्य एवम् बुद्धि-संगत चिन्तन-प्रणाली का भी प्रयोग करता है।

लोकायत-मत एवम् प्रमा –

आधुनिक इतिहास-वेत्ताओं का मत है कि निश्चय ही उपनिषदों के बाद और जैन-बौद्ध-दर्शन के उदय के पूर्व के काल में एक अनास्था का काल रहा है जिसके मुख्य प्रतिनिधि चार्वाक हैं। इन्होंने इस लोक को ही सत्ता का अन्तिम रूप मानते हुए अन्तर्दृष्टि के स्थान पर लोक-दृष्टि को ही अधिक महत्त्व दिया। अन्तर्दृष्टि का स्थान अब समीक्षा एवम् सत्यान्वेषण और धार्मिक विश्वासों का स्थान दर्शन-शास्त्र लेने लगे थे। लोकायतिकों ने साक्षात् इन्द्रिय-सम्बंध से पैदा हुई प्रत्यक्ष प्रमा को ही यथार्थ मानते हुए स्वीकार किया कि पृथ्वी, जल, अग्नि एवम् वायु आदि चार नित्य तत्त्वों का परिवर्द्धित रूप ही प्रमा ज्ञान है।[52] किन्तु प्रमा ज्ञान के वैलक्षण्य पर या उसकी सूक्ष्मता पर जड़वादियों ने सम्भवतः कोई विशेष विचार नहीं किया।

प्रमा और जैनमत –

जैन दर्शन में प्रमा, प्रमाता, प्रमेय के विषय में खुलकर बात हुई है। उमास्वाति (200 ए.डी) ने ज्ञान के पांच प्रकार मानते हुए शेष दर्शनों की प्रमाण-मीमांसा से अपने को एकदम ही अलग कर दिया। मति, श्रुति, अवधि, मनःपर्याय एवम् केवल ज्ञान के पांच स्तरों को स्वीकार करते हुए अतीन्द्रिय विषयों का ज्ञान कराने वाली अवधि प्रमा को असाधारण माना है[53] तथा मनःपर्याय ज्ञान को भी टैलीपैथी जैसा मानते हुए असाधारण ही माना है। क्योंकि उसके भी दो भेदों ऋजुमति और विपुलमति में से विपुलमति ज्ञान मन के अतिसूक्ष्म परिणामों को भी जानने में समर्थ है तथा स्थायी भी है। किन्तु केवल ज्ञान को देश काल एवम् विषय की सीमा के बाहर मानते हुए उन्होंने उसे ज्ञान की संपूर्णता या

सर्वज्ञता कहा है।[54] इस दशा में कुछ भी अज्ञेय नहीं रह जाता। मेरे विचार में ज्ञान की इन्हीं दशाओं के आधार पर ही जैन मत के देवीदेववाद की बाद में प्रतिष्ठा हुई है। पंचास्तिकायसमयसार[55] एवम् न्यायावतार आदि जैनग्रन्थों का उद्धरण देते हुए डा० राधाकृष्णन् ने प्रत्यभिज्ञा के स्वरूप को भी स्पष्ट किया है कि प्रत्यभिज्ञा वह ज्ञान है जो वस्तुओं के सादृश्य से उत्पन्न होता है, जैसे हम एक नए पदार्थ को जिसके विषय में पहले पढ़ा था, उसे पहचान लेते हैं।[56] किन्तु सर्वदर्शनसंग्रहकार ने जैनों के दो तरह के ज्ञान-सम्बंधी अन्य विभाजन का वर्णन किया है - दर्शन और ज्ञान। दर्शन साधारण बोध है जब कि ज्ञान प्रकाश रूप धारणात्मक बोध है।

यहां एक बात और ध्यान देने योग्य है कि यद्यपि जैनमत और आस्तिक दर्शनों में पर्याप्त सैद्धान्तिक मतभेद हैं। जीव, जगत्, ईश्वर, परलोक, आत्मा आदि सभी बातों पर दोनों के विचारों में बहुत टकराव है तथापि आध्यात्मिक साधना के सिद्धान्त और व्यवहार में या उन पर आधारित प्रतीकों में मूल अन्तर नहीं दिखाई पड़ता है।

श्री जनार्दनमिश्र ने –28 के लगभग जैन देवियों के नामों की चर्चा करते हुए लिखा है– "जैन देवियों में श्रुतदेवी विशेषरूप से उल्लेखनीय है। श्रुतदेवी सरस्वती का ही एक नाम है। जिस प्रकार श्रौत मत वाले वसन्त-पंचमी (माघ शुक्ल पंचमी) के दिन सरस्वती की विशेषकर उपासना करते हैं, उसी तरह जैन ज्ञानपंचमी (कार्तिकशुक्ल पंचमी) के दिन श्रुतदेवी की विशेष रूप से उपासना करते हैं।[58] श्रुतदेवी का एक आवाहन-मंत्र इस प्रकार है – ओं ह्रीं नमो भगवति ब्रह्माणि, वीणा पुस्तक पद्माक्षसूत्र हंसवाहने श्वेतवर्णे इह षष्ठी पूजने आगच्छ"।[59] इन सब प्रमाणों को देखते हुए यह मानना पड़ेगा कि श्रुतदेवी या सरस्वती का सम्बंध प्रकारान्तर से प्रमा की देवी प्रतिभा से ही रहा होगा।

बौद्धों की प्रमा –

यद्यपि बौद्धों के विषय में सनातन मतावलंबियों का दृष्टिकोण एकदम विपरीत रहा है तथापि यह नहीं कहा जा सकता कि प्रमा, ज्ञान, बुद्धि आदि शब्दों के व्यवहार के पीछे बुद्ध ने अपनी वैदिक परम्परा से कुछ ग्रहण नहीं किया। बुद्ध चाहे शून्यवादी रहे हों या विज्ञानवादी अथवा उभयवादी, लेकिन यह तथ्य है कि उनके लिए प्रयोग किए हुए बुद्ध, गौतम, तथा गत या सुगत आदि सभी शब्द इस बात का द्योतन करते हैं कि बुद्धि गौ या गति आदि शब्दों का प्रयोग उन्हें एक सहज गतिशील प्रज्ञा वाला व्यक्ति सिद्ध करने के लिए ही हुए हैं। बौद्धों का त्रिरत्न-सिद्धांत, जिसका प्रकाशन शील, समाधि और प्रज्ञा के रूप में हुआ उसे मात्र दार्शनिक शून्यवाद की संज्ञा नहीं दी जा सकती। उसमें बहुत कुछ मिला हुआ है और बहुत कुछ निकाला जा सकता है। विज्ञान वादी एवम् माध्यमिक मत के बौद्धों ने

यद्यपि विज्ञान, चित्त एवम् अनुभूति की कई दशाओं का वर्णन किया है तो भी उसमें महायान मत की माध्यमिक शाखा का सर्वाधिक महत्व है। नागार्जुन जैसे तत्त्ववित् ने इसी चिन्ताधारा में जब परमार्थ सत्य और व्यवहार-सत्य के बीच सम्बंध देखते हुए कहा कि व्यवहार की सहायता के बिना परमार्थ का ज्ञान नहीं हो सकता[60], तो व्यवहार से परमार्थ तक जाने के लिए "शमथ" अर्थात् चित्त की एकाग्रता रूप समाधि की आवश्यकता पड़ती है।[61]

इस समाधि के ही नित्य अभ्यास से "प्रज्ञा का उदय होता है। उसी से परम सत्य की अनुभूति होती है। लेकिन समाधि के लिए एक ओर तो वैराग्य आवश्यक है दूसरी ओर "दान", शील", "क्षान्ति", "वीर्य", 'ध्यान' तथा 'प्रज्ञा' जैसी छः पारमिताओं का ज्ञान एवम् अभ्यास अपेक्षित है। इनके बिना शून्यता का साक्षात्कार कहां हो सकता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि यद्यपि बौद्ध-न्याय में प्रामाण्यवाद या प्रमाण-मीमांसा का सविस्तार साहित्य है तो भी चरम अनुभूति के लिए जिस प्रज्ञा की खोज हुई वह प्रामाण्यवाद से कहीं ऊपर प्रतिष्ठित हुई। उसी प्रज्ञा की बाद में बौद्ध देवी-देवताओं में महती प्रतिष्ठा हुई। भगवती तारा, प्रज्ञा पारमिता एवम् मंजुश्री जैसी बौद्ध देवियां सरलता से शैवों एवम् शाक्तों की महाकाली, महासरस्वती एवम् महात्रिपुरसुन्दरी के रूपों में क्रमशः अनुस्यूत हो जाती हैं। अतः कहा जा सकता है कि निश्चय ही बौद्धों में प्रज्ञा के विभिन्न रूप शैवी प्रतिभा के ही कुछ पूर्वरूप हो सकते हैं।

न्याय में अलौकिक प्रत्यक्ष –

यहां हम प्रतिभा के सन्दर्भ में अलौकिक प्रत्यक्ष की बात इसलिए करने जा रहे हैं क्योंकि कालिदास आदि शैव कवियों ने प्रतिभा को भी निष्प्रतिघ तृतीय चक्षु कहा है। रघुवंश के वसिष्ठ गुरु की अन्तश्चक्षु ज्ञानमय होने से भूत, भविष्यत् वर्तमान को एक साथ देख लेती थी। उसी ने प्रणिधान के ज़रिए राजा दिलीप के यहां संतति के न होने के कारण को भांप लिया।[62] इस दिशा में नैयायिक लोगों ने प्रत्यक्ष के लौकिक स्वरूप को तो इन्द्रिय और विषय के छः सन्निकर्षों में व्याख्यात कर दिया, किन्तु विशेष ज्ञान के लिए कुछ अलौकिक सन्निकर्षों का भी विचार किया। सामान्यलक्षणा प्रत्यासत्ति, ज्ञानलक्षणा प्रत्यासत्ति एवम् योगज प्रत्यक्ष, न्यायप्रणाली में अपना स्थान रखते हैं।

इनमें प्रथम तो इस प्रश्न का उत्तर देता है कि जहां हम धुएं को आग के साथ देखते हैं वहां तो सर्वत्र चक्षु और धूम का संयोग सन्निकर्ष है। किन्तु भूत, भविष्यत्, वर्तमान एवम् अप्रत्यक्ष धूमों के साथ नेत्र का कोई सम्बंध न रहने से, वहां फिर सभी धूमों के साथ अग्नि-व्याप्ति कैसे बनती है। इसके उत्तर में कहा गया है कि प्रथम क्षण में धूम के साथ चक्षु-संयोग-काल में धूम में रहने वाले धूमत्व-सामान्य से जो संयोग हुआ उसमें धूमत्व-

सामान्य की नित्यता के कारण रसोईघर के धूम और धूमत्व को नेत्र से देखकर सभी अविद्यमान धूमों का प्रत्यक्ष ज्ञान हो जाता है। डा० उमेश मिश्र के शब्दों में "यह ज्ञान धूमत्व-सामान्य के साथ चक्षु का सम्बंध होने से होता है। अतएव इस सम्बंध को सामान्य लक्षणा प्रत्यासत्ति सम्बंध कहते हैं।[63]

ज्ञानलक्षणा प्रत्यासत्ति दूसरा अलौकिक सन्निकर्ष है। दूरस्थ चन्दन-काष्ठ को देखकर हम जो उसकी सुगन्धि को ज्ञात कर लेते हैं उसमें क्या कारण है। क्योंकि चन्दन-गन्ध से तो घ्राण का सन्निकर्ष होता ही नहीं। नैयायिकों का कहना है कि दूर से ही चन्दन-गन्ध का ज्ञान इस ज्ञान पर आधारित है कि "वह चन्दन है।" चन्दन-गन्ध का ज्ञान सामान्यलक्षणा-प्रत्यासत्ति से भी हो सकता था किन्तु सुगन्धत्व का ज्ञान अर्थात् सुगन्ध में रहने वाले सामान्य का ज्ञान ज्ञानलक्षणा प्रत्यासत्ति से ही होगा।

न्यायसिद्धान्तमुक्तावली के प्रत्यक्ष खण्ड में योगज प्रत्यक्ष को दो प्रकार का कहा गया है – योगजो द्विविधः प्रोक्तो युक्तयुंज्जानं भेदतः। युक्तस्य सर्वदा भानञ्चिन्तासहकृतोऽपरः।।[64]

उन्हीं की व्याख्या में मुक्तावली में कहा गया है कि "युक्तस्य तावद्योगजधर्मसहायेन मनसाऽऽआकाशपरमाण्वादि निखिल पदार्थ गोचरं ज्ञानं सर्वदैव भवितुमर्हति। द्वितीयस्य चिन्ताविशेषोऽपि सहकारीति।[65]

इस प्रकार कहना न होगा कि नैयायिकों में भी युक्त और युञ्जार नामक दो प्रकार के योगियों के भेद से यह बता दिया कि परमाणु आदि तथा अन्य परोक्ष-भूत वस्तुओं का ज्ञान योगियों को अलौकिक उपायों से होता है तो उसको प्रतिभा शक्ति से पृथक् नहीं किया जा सकता।

वैसे भी देखा जाए तो नैयायिक और वैशेषिक चिन्तक मुख्यतः शैव ही कहे जाते हैं। शिव के कर्तृत्व आदि गुण एवम् पशुओं के आणव आदि मलों की व्याख्या के लिए वैशेषिक और नैयायिक दोनों ही महत्वपूर्ण योगदान कर सकते हैं। वैशेषिक आर्षज्ञान या प्रातिभज्ञान की बात भी खुल कर करते रहे हैं। मूल सूत्रों में ही "आर्षसिद्धदर्शनं च धर्मेभ्यः"[66] कह कर आर्ष दृष्टि और सिद्ध-दृष्टि की प्रामाणिकता को स्वीकार कर लिया गया है। 'धर्मेभ्यः' का अर्थ करते हुए व्याख्याकारों ने धर्म का अर्थ भी स्पष्ट कर दिया – "योगाभ्यास जनितोधर्मविशेषः।[67] इस धर्म-विशेष के बल से साधारण बुद्धि में भी अलौकित्व का सन्निवेश हो जाता है। वैशेषिकसूत्र के भाष्यकार प्रशस्तपाद ने भी बुद्धि-निरूपण प्रकरण के अन्तर्गत प्रतिभोत्थ ज्ञान की बात साफ-साफ कही है –

"आम्नायविधातॄणामृषीणामतीतानागतवर्तमानेष्वतीन्द्रियार्थेषुधर्मादिषु

ग्रन्थोपनिबद्धेष्वनुपनिबद्धेषु चात्ममनसोः संयोगाद् धर्मविशेषाच्च यत् प्रातिभं यथार्थनिवेदनं ज्ञान- मुत्पद्यते तदार्षमित्याचक्षते। तत् तु प्रस्तारेण देवर्षीणाम्। कदाचिदेव लौकिकानाम्।[68]

वैशेषिकों की इन परिभाषाओं में तीन बातें महत्त्वपूर्ण हैं। एक तो प्रातिभ ज्ञान का मूल केवल आत्मा और मन का संयोग और दूसरा धर्म-विशेष उसका कारण हैं। तीसरे यह कि प्रातिभ ज्ञान यथार्थ-निवेदन की ओर उन्मुख है। ये तीनों बातें व्याख्यान-सापेक्ष हैं। विस्तारभय से इनका अधिक विवरण यहां उपयुक्त नहीं।

मीमांसा में प्रमा एवम् प्रतिभा –

इस प्रबन्ध को लिखते हुए हम बराबर इस बात को दृष्टि में रखे हुए हैं कि ज्ञान, प्रज्ञान, प्रमा और प्रतिभा शब्दों के दार्शनिक अर्थों में विकासक्रम कैसे चला है। इनमें से प्रत्येक शब्द के प्रयोग का अपना वैशिष्ट्य होते हुए भी प्रकारान्तर से एक ही ऐसी वस्तु-भूत मानव-चेतना का निरूपण है जो मानव को सम्पूंर्ण सृष्टि में सबसे विलक्षण सिद्ध करती है। वह चेतना स्वयं कितनी विलक्षण होगी इस बात पर विचार करते करते पूर्व-मीमांसक लोग जिन तथ्यों पर पहुंचे, वे ये हैं –

1. वेद अपौरुषेय है।
2. शब्द नित्य है।
3 प्रामाण्यवाद में स्वतःप्रमाण्यवांद ही ठीक है। परतःप्रमाण्य नहीं।
4. धर्म-जिज्ञासा में जो धर्म है उसका प्रमाणभाव भी स्वतःसिद्ध है।[69]

इन चारों तथ्यों की परीक्षा करने से पूर्व यदि हम मीमांसकों के प्रतिभा और प्रमाण के लक्षण को लें तो कुछ अन्य तथ्य भी सामने आएंगे। मीमांसा के मत में प्रमा "अज्ञाततत्त्वार्थ ज्ञानम्[70] है और प्रमाण 'कारणदोषबाधकज्ञानरहितम् अगृहीतग्राहि ज्ञानं प्रमाणम्"[71] है। दोनों ही जगह अज्ञात का ज्ञान तथा अग्रहीत का ग्रहण है। लेकिन यह ज्ञान यदि निर्दोष एवम् बाधक ज्ञान से रहित हो तो वेदोक्त कर्म के माध्यम से "अपूर्व" की उद्भावना कर सकता है और यह अपूर्व उस कर्म की वह सूक्ष्म उत्तर अवस्था है या फल की पूर्वावस्था है जो नितान्त सूक्ष्मा शक्ति है जो बाद में फलरूप रचना में प्रकट हो जाती है।[72] क्या यह सूक्ष्माशक्ति ही तो काव्य प्रकाशकार मम्मट के काव्यहेतुओं में अपूर्वा या प्रतिभा शक्ति बन कर तो प्रविष्ट नहीं हो गई।

अब यदि इस प्रकाश में मीमांसकों के उपरोक्त चार तथ्यों का विश्लेषण करें तो स्पष्ट है कि ज्ञान को अपौरुषेय मानना, वैयाकरणों के स्फोट-सिद्धांत को अस्वीकृत कर वर्णात्मक्र शब्द की अथवा वाक्तत्त्व की संपूर्ण निरूपता को स्वीकार करना, फिर आर्ष

वाक्यों का स्वतः प्रामाण्य या स्वयंप्रकाशता स्वीकार करना और अन्त में धर्मी की चर्चा किए बगैर ही धर्म की स्वतः सिद्धता पर ही सारा बल देना क्या शैवी प्रतिभा के ही पारदर्शी रूपों का एकत्र संघटन एवम् उन्मीलन नहीं तो क्या है? शैवी प्रतिभा में अपूर्व सहित चारों ही तत्त्व एकान्वित हुए हैं, ऐसा हमें लगता है। प्रमुख मीमांसकों का शैव होना भी सामान्यतः इस अनुमान की पुष्टि ही करता है। इसके अतिरिक्त मीमांसकों की मोक्ष की कल्पना भी इस सन्दर्भ में द्रष्टव्य है। उनका कहना है कि मानव चेतना के उन्मेष के तीन प्रतिबन्धक हैं – भोगायतन शरीर, भोग के साधन इन्द्रिय, तथा भोग्य शब्द आदि विषय।

इन तीन प्रतिबन्धकों से भोग पैदा होता है। जिससे सुखदुखादि का प्रत्यक्षानुभव होता है। तो इस तीन प्रकार के प्रतिबन्धकों का सदा के लिए विलय होना ही मोक्ष है।[73] यह स्वाभाविक ही है कि बन्ध के खुल जाने से चेतना का जो भी स्फुरण होगा वह अपूर्व होगा, अदृष्ट होगा अलौकिक नूतनता का वाहक होगा।

सांख्य एवम् योग में प्रज्ञा –

यद्यपि सांख्य दर्शन की प्रकृति-पुरुष की विश्लेषण पद्धति यह सिद्ध करती है कि प्रकृति-पुरुष के संयोग से जो प्रसवधर्मिता या रचनात्मकता पैदा होती है वह कैवल्य में अपेक्षित नहीं। और फिर सत्कार्यवाद के सिद्धान्त के अनुसार कोई विलक्षण या नवनवीन सृष्टि-कल्पना भी नहीं हो सकती। क्योंकि सत्कार्यवाद का दृढ़मत है कि कोई भी कार्य पूर्ववर्ती कारण से नितान्त नवनवीन हो नहीं सकता। ले देकर एक बुद्धितत्त्व की बात कही जा सकती है। लेकिन वह भी प्राकृत होने से अचेतन है उसमें जायमान अध्यवसाय तो है। लेकिन वह भी प्राकृत होने से अचेतन ही है दूसरी ओर चेतन पुरुष निस्संग होने से सुख दुखादि के अनुभव से असस्पृष्ट है। किन्तु बुद्धि में चैतन्य का प्रतिबिम्ब पड़ने से उसमें जो सत्त्व का समुद्रेक होता है या निर्मलता आती है उस से चिच्छायापत्ति की दशा में, अचेतन बुद्धि में भी एक ऐसे वैलक्षण्य का उदय होता है जिसमें संपूर्ण अचित् चित् में ही परिणत होता हुआ दीख पड़ता है। लगता है उसी दिशा को लक्ष्य करके ईश्वर-कृष्ण उदासीनता के दर्शन में तरलित हो उठे और सांख्य-कारिका के उत्तरार्ध की आधी कारिकाओं में वे दार्शनिकता में भी कवित्व की भाषा बोलने लगे। वाचस्पति मिश्र भी तत्त्वकौमुदी के प्रारम्भ में उपनिषद् की भाषा में उसे नमस्कार करने लगे –

"अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां वह्वीः प्रजाः सृजमानां नमामः।[74]

वस्तुतः सांख्यों और शैवों का अन्तर केवल इतना ही है कि सांख्य सृष्टि-मात्र को उदासीनता की दृष्टि से देखने का पक्षधर है जब कि शैव उसी सृष्टि को स्वातंत्र्य और आनन्दवाद की दृष्टि से देखता है। अन्यथा बुद्धितत्त्व का सदैव चेतन पुरुष की ओर अभिमुख

होकर ही भावसृष्टि करना या शक्ति का शिव की ओर ही अभिमुख रह कर प्रतिभान पैदा करने में कोई अन्तर नहीं है। तथा परमशिव की तटस्थता एवम् निस्संग समाधिस्थता एवम् शक्ति की शिव के प्रति उतनी ही रागात्मता क्या सांख्य के चेतन पुरुष की निस्संग उदासीनता तथा प्रकृति की उसके प्रति रजस्विता में कोई अन्तर है? पुनश्च विवेकख्याति की दशा में बुद्धितत्त्व में ही जो चरम सूक्ष्मता उठती है क्या वह प्रज्ञा से कोई भिन्न वस्तु हो सकती है। योगसूत्र के भाष्यकार व्यास कहते हैं - " चित्त के समाहित हो जाने पर प्रज्ञा-विवेक यानी बुद्धि-प्रकर्ष प्राप्त होता है। उसी से वस्तुओं के यथार्थ का साक्षात्कार होता है।[75] इसी प्रज्ञा को योग में ऋतभरा प्रज्ञा कहा गया है जो केवल ऋत को ही यानि गतिशील सत्य को धारण करती है।[76] इस प्रज्ञा को योगी लोग जिन तीन साधनों से प्राप्त करते हैं वे उपनिषदों के श्रवण, मनन, निदिध्यासन से अधिक भिन्न नहीं।[77] लेकिन इस ऋतभरा प्रज्ञा में प्रतिभा की धारणा तब अक्षरशः उतर आती है जब व्यास यह कह देते हैं "समाधिप्रज्ञाप्रतिलम्भे योगिनः प्रज्ञाकृतः संस्कारः नवो नवो जायते।"[78]

इस दिशा में योग-दर्शन का एक और वैशिष्ट्य है कि प्रज्ञा के स्वरूप-निरूपण के साथ-साथ वह प्रतिभा शब्द के दर्शन को भी तीसरे विभूतिपाद में स्पष्ट कर देता है। सिद्धियों के अलग अलग रूपों का विवेचन करते हुए पतंजलि प्रातिभ संयम यानी प्रतिभा पर एकतान चित्त करने से सभी सिद्धियों की प्राप्ति कह देते हैं – प्रातिभाद् वा सर्वम्।[79] किन्तु इसी के आगे सूत्र पर व्यासभाष्य में प्रातिभ ज्ञान का स्वरूप बताते हुए स्पष्ट कर दिया गया है कि प्रातिभज्ञान से सूक्ष्म व्यवहित विप्रकृष्टतीतानागत का ज्ञान होता है।[80] इस प्रकार उपरोक्त अध्ययन के अनन्तर यह भी कहा जा सकता है कि योगियों के जिन चार-प्रथम-कल्पिक, मधु-भूमिक, प्रज्ञाज्योति तथा अतिक्रान्त-भावनीय रूपों का वर्णन किया जाता है उनमें से बीच के दो निश्चय ही प्रतिभा के धनी है। क्योंकि उनमें से पहला तो केवल प्रयासरत श्रमिक है जिसे अभी रचनाधर्मिता को प्राप्त करना है। चौथा रचनाधर्मिता का अतिक्रम कर चुका है अतः बीच के दो से ही प्रतिभाशक्ति का रचनात्मक कार्य होता है।

अद्वैत वेदान्त में प्रज्ञा –

यद्यपि स्थूल रूप में अद्वैत-वेदान्त को जब प्रस्तुत किया जाता है तो लोग बहुत ही भोथरेपन से "ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या" की बात कह कर अद्वैत-वेदान्त को समेट देते हैं। लेकिन जब इस सिद्धांत के अनुसार जीवन और व्यवहार की व्याख्या करनी पड़ती है तो वे बे-सिर-पैर की उलझनें खड़ी कर लेते हैं। अतः बात ठीक से पकड़ी जाए तो अद्वैत-मीमांसा जीवन और जगत् के अत्यन्त निकट लगती है।

प्रमाण एवम् प्रमा आदि की बात करते हुए शंकर कहते हैं कि प्रत्येक अनुभूति

में अनुभविता का होना ही यह सिद्ध करता है कि समस्त प्रमाणों के मूल में कोई आत्मा है। यह आत्मा ज्ञानस्वरूप है। इस आत्मा को लेकर उदय हुई दृष्टि नित्या है जो निश्चय ही चाक्षुष आदि प्रत्यक्षों का मूल है। क्योंकि आत्मा सभी प्रमाणों के व्यवहार के मूल में है। अतः वह स्वतःप्रमाण, स्वयंप्रकाश होने से लौकिक प्रमाणों से ऊपर है।[81] इस आत्मदृष्टि का समर्थन करते हुए शंकर कहते हैं कि दृष्टियां दो हैं। चाक्षुषी दृष्टि अनित्य है। आत्मा की दृष्टि नित्य है। आत्मदृष्ट्यादीनां नित्यत्वं प्रसिद्धमेव लोके।[82] यह आत्म-दृष्टि इतनी व्यापक है कि योगी लोग इसी दृष्टि को पाने के लिए उस नित्य सिद्ध ईश्वर की उपासना करते हैं। इसी दृष्टि से योगियों को अतीत और अनागत विषयों का भी प्रत्यक्ष ज्ञान हो सकता है।[83] लेकिन वेदान्तियों की प्रत्यक्षानुभूति की प्रक्रिया विचारणीय है। वे कहते हैं कि प्रत्यक्ष दो प्रकार का है। जीव-साक्षि और ईश्वरसाक्षि।[84] अन्तःकरण से अवच्छिन्न चैतन्य रूप जीव जब अपनी अन्तः करण उपाधि को ईश्वर की उपाधि में ज्ञान-समाधि आदि के द्वारा मिला देता है तो उसका प्रत्यक्ष भी ईश्वर के प्रत्यक्ष की भांति ही व्यापक हो जाता है।

इसके अतिरिक्त आचार्य शंकर माण्डूक्य-कारिका-भाष्य में भी एक जगह चित्त की ही एक ऐसी अवस्था का वर्णन करते हैं जिसमें चित्त ब्रह्मरूप से निष्पन्न होकर रहता है – " निगृहीतं चित्तं यदा सुषुप्तौ न लीयते, न च पुनर्विषयेषु विक्षिप्यते, अनिंगनम् अचलं निवातप्रदीपकल्पम् अनाभासं न केनचित् कल्पितेन विषायभवेनावभासते इति, यदा एवंलक्षणं चित्तं तदा निष्पन्नं ब्रह्म, ब्रह्मस्वरूपेण निष्पन्नं भवति।" इस कथन के अनुसार तो चित्त ही चेतना के संसर्ग से जब बृंहणभाव प्राप्त करता है या यूनिवर्सलाइज़्ड होता है तो उसमें प्रति-प्रकाश या प्रतिभा का उदय होता है।

अद्वैत-वेदान्त में आने वाली मान्यताओं में अनिवर्चनीय लक्षणरूपा महादभुता माया, प्रत्यगात्मा, संवित् अखण्डार्थता एवम् चिदावरण भंग आदि अत्यन्त प्रमुख परिभाषाएं हैं। इनमें से मेरे विचार में, माया तो विलक्षण होने पर भी वेदान्तियों की दृष्टि में ऐन्द्रजालिक की सी शक्ति होते हुए भी भ्रम की ही रचना करती है। इस भ्रम के कारण ही से तत्त्व एक होते हुए भी नानात्व प्रतीति का शिकार हो जाता है। लेकिन इस भ्रम या अध्यास की नाना वृत्तियों के पीछे भी प्रत्यगात्मा या प्रत्यक चैतन्य तो सर्वत्र रहता ही है। अतः वह चैतन्य जब किसी वृत्ति के पीछे से निकलकर प्रत्यक्तत्व को छोड़कर अभिमुखीभाव से खुल उंठता है तो संवित् का प्रकाश या स्फुरण भी अधिक स्पष्ट हो जाता है और अखण्डाकाराकारित चित्तवृत्तिरूप महाभाव का भी उदय होता है। तत्त्वमसि आदि श्रुतिवाक्यों से चित्त में जिस अखण्डार्थता का उदय होता है[86] उस अखण्डार्थता के उदय से अविद्या, जड़ता, काम, क्रोध, लोभ आदि वासनाओं से आवरण ले करके खण्ड-खण्ड प्रतीति होने वाली सृष्टि एक ही

अर्थ या महार्थ में भासित होने लगती है। तब चित्त ही चैतन्यरूप होकर अखण्डार्थप्रकाशिनी प्रतिभा या महाप्रज्ञा के रूप में सामने आता है। यह मुक्त ज्ञान है जो आवरण का निवर्तकमात्र ही नहीं, अखण्डाकारक दृष्टि भी है। और ऐसा भी नहीं है कि यह मुक्त ज्ञान उदय होकर फिर लौट जाता हो।[87] उससे तो वह क्षणिक हो जाएगा। वह तो अविद्या के पूर्ण उच्छेद के साथ-साथ अखण्डानन्द का स्फुरण है – "अखण्डानन्दावरक संसारदुखहेत्वविद्योच्छेदे अखण्डानन्दस्फुरणम्।"[88] यहीं से आनन्दमयी सृष्टि की रचना होती है जिसके विषय में श्रुति कहती है कि आनन्द से ही सब भूत पैदा होते हैं, आनन्द में ही जीते हैं और आनन्द में ही लय हो जाते हैं।[89] अतः वेदान्त अद्वैत हो या भक्ति वेदान्त, शैव हो या वैष्णव हो, अखण्डानन्दस्फुरण एवम् अखण्डदृष्टि सभी को प्रिय है। भारतीय दर्शन एवम् साहित्य में इस दृष्टि का इतना विस्तार हुआ कि काश्मीरी शैव काव्यशास्त्रियों से लेकर दाक्षिणात्य पण्डितों तक ने अपने रस-सम्बन्धी आलोचना में इसी अखण्डानन्द-स्फुरण और चित् के आवरण भंग को ही रस कहा है।[90] पण्डितराज जगन्नाथ ने अपनी प्रसिद्ध कृति रस-गंगाधर में अभिनवगुप्त और मम्मट के ग्रन्थों के निष्कर्ष को प्रस्तुत करते हुए कहा है कि" अज्ञानरूप आवरण से युक्त शुद्ध चैतन्य का विषय बना हुआ रति आदि स्थायिभाव ही रस है :- इत्थं चाभिनवगुप्तमम्मटभट्टादिग्रन्थस्वारस्येन भग्नावरणा चिद्विशिष्टो रत्यादिः स्थायिभावो रसः।[91]

किन्तु पण्डितराज ने काश्मीरी शैव पण्डितों से अपने अद्वैतवेदान्ती भेद को स्थित रखते हुए कहा है कि भग्नावरणा चिद्-विशिष्ट रति आदि स्थायिभाव नहीं अपितु रति आदि से अविच्छन्न भग्नावरण चित् ही रस है। लेकिन दोनों ही दृष्टिकोणों के अनुसार लोकालोकमयी प्रतिभा का अभिनिष्यन्द ही रस है। यह दूसरी बात है कि प्रत्यभिज्ञा के आचार्य अभिनवगुप्त रस की अलौकिकता में भी लौकिक रति आदि स्थायिभावों को नष्ट नहीं करना चाहते। क्योंकि लौकिकता में भी तो शिवता की अलौकिकता का ही स्फुरण है। किन्तु मायावादी वेदान्त अलौकिकता में लौकिकता के प्रति असहिष्णु होने के कारण लौकिकता या लीला को प्राधान्य नहीं देना चाहता। उसकी दृष्टि में अभिव्यक्ति का स्फुरण मिथ्या या माया जो ठहरा।

– सन्दर्भ –

1. रघुवंश 1-1
2. काव्यालंकार, 1-16
3. उत्तररामचरितम्, 1-1
4. Garland of letters, page 1
5. प्रजापतिर्वै इदमासीत् तस्य वाग्द्वितीयाआसीत्।" काठक संहिता, 12-5
6. "स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति।" महाभाष्य प्रथम आन्हिक पृ० 14

7. "तदैक्षत्। बहुस्यां प्रजायेय।" छान्दोग्य उपनिषद्, 6-2-23
8. ऋग्वेद 5-43-11
9. "हदिस्था मध्यमा ज्ञेया वैखरी कण्ठदेशगा।" परमलघुमञ्जुषा, 11 पर सभापति का भाष्य
10. बृहदारण्यकोपनिषद् 4-1-2
11. तैत्तिरीय ब्राह्मण, 3-39-1
12. महाभारत, शान्तिपर्व, 5-12-920
13. बृहदारण्यक उपनिषद, 5-14-7
14. ऋग्वेदीय सरस्वतीरहस्योपनिषद्, मंत्र-6
15. ब्रह्मसूत्र 1-3-28 के भाष्य में
तत्र-तत्र शब्दपूर्विका सृष्टि : कहते हुए एक कारिका उद्धृत करते हैं जो सिद्ध करती है कि शंकर भी शब्द से अर्थसृष्टि और वाक्तत्त्व नित्य है" का सिद्धान्त हृदय से मानते थे।
16. अनादि निधना नित्या वागुत्सृष्टा स्वयंभुवा।
आदौ वेदमयी दिव्या यतः सर्वाः प्रवृत्तयः।। महाभारत (शान्तिपर्व) 231-65
17. अथर्ववेद, 9-2
18. महार्थमञ्जरी, 89-90
19. रत्नत्रय, 30-32
20. वही०, 30-32
21. चतस्रो वृत्तयस्तस्य याभिर्व्याप्तास्त्रिधाणवः। वही० 30
22. वही०, 30
23. अभिनव गुप्त, पृ० 499
24. "ज्ञानाधिष्ठानं मातृका।" शिव सूत्र, 1-4
25. ज्ञानस्यैव द्विरूपस्थ परापर विभेदतः।
स्यादधिष्ठानमाधारः शक्तिरेकैवमातृका।। शिव सूत्र वार्तिक, पृ० 23
26. मंत्र और मातृकाओं का रहस्य, पृ० 88
27. वही०, पृ० 89
28. वरिवस्यारहस्य, पृ० 17
29. वही०, पृ० 4
30. तंत्रालोक, पृ० 225
31. यतः शब्दानुवेधेन न विना प्रत्ययोद्भवः।।
सेयं क्रियात्मिका शक्तिः शिवस्य पशुवर्तिनी।
बन्धयित्री स्वमार्गस्था ज्ञाता सिद्ध्युपपादिका।। स्पन्दकारिका, 3-47, 48
32. सर्ववर्णात्मका मंत्रा ते च शक्त्यात्मकाः प्रिये।
शक्तिस्तु मातृका ज्ञेया शिवात्मिका ज्ञेया सा च। शिवसूत्रविमर्शिनी, पृ० 51 पर श्री तंत्र सद्भाव में से उद्धरण
33. परापरतरं तत्त्वं सैषा देवी निगद्यते।
तत्सारं तच्च हृदयं स विसर्गः परः प्रभुः।। तंत्रालोक 3-69

34. साऽत्र कुण्डलिनीबीजजीवभूता चिदात्मिका।। "ईश्वरप्रत्यभिज्ञाकारिका, 3-13
35. 3-66
36. त्रयी सांख्यं योगः पशुपतिमतं वैष्णवमिति।
प्रभिन्ने प्रस्थाने परमिदमदःपथ्यमिति च।।
रुचीनां वैचित्र्यादृजुकुटिल नानापथजुषां।
नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इव।। शिव-महिम्नःस्तोत्रम्, 7
37. भारतीय दर्शन, पृ० 1 से उद्धृत (बलदेव उपाध्याय)
38. सर्वतन्त्रसिद्धान्तपदार्थलक्षणसंग्रह, 171
39. अतीतावच्छिन्नवस्तुग्रहणं प्रत्यभिज्ञानम्।" सप्तपदार्थी
40. "सा प्रसूते कुण्डलिनी शब्दब्रह्ममयी विभुः। शारदातिलक, पृ० 6
41. न सोऽस्ति प्रत्ययोलोके यः शब्दानुगमादृते। अनुविद्धमिदं ज्ञानं सर्वं शब्देन गृह्यते। वहीं, पृ० 4 वाक्यपदीय, ब्रह्मकाण्ड, श्लोक 123
42. "इदमन्धंतमः जायेत कृत्स्नं भुवनत्रयम्। यदि शब्दाह्वयं ज्योतिरासंसारं न दीप्यते।।" काव्यादर्श, 2
43. "आर्षं धर्मोपदेशं च वेदशास्त्राविरोधिनी, यस्तर्केणानुसन्धत्तेस धर्मंवेद नेतरः।।" मनुस्मृति, 12 - 106
44. मानमेयोदय, 1-2
45. शास्त्रदीपिका, 1-1-5
46. पञ्चदशी, 1-7
47. भारतीय दर्शन, पृ० 159
48. "यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह।" तैत्तिरीयोपनिषद्, 2-4
49. छान्दोग्योपनिषद्, 6-13 तथा बृहदारण्यकोपनिषद्, 2-4-5
50. बृहदारण्यकोपनिषद्, 4-4-21
51. भारतीय दर्शन, भाग-1, पृ० 163 (राधाकृष्णन्)
52. वही० पृ० 256
53. तत्त्वार्थ सूत्र, 1-9
54. वही० 1-29
55. पञ्चास्तिकायसमयसार, 41, पृ० 271 भारतीय दर्शन (राधाकृष्णन्) पृ० 271
56. वही0, 48, पृ० 272 भारतीय दर्शन (राधाकृष्णन्) पृ० 272
57. सर्वदर्शन संग्रह, पृ० 136
58. भारतीय प्रतीकविद्या
59. वही०, पृ० 248-249
60. व्यवहारमनाश्रित्य परमार्थो न देश्यते।
परमार्थमनागम्य निर्वाणनाधिगम्यते।। माध्यमिक कारिका, 2-4-18
61. शमथेन विपश्यनासु युक्तः कुरुते क्लेशविनाशमित्यवेत्य।
शमथः प्रथमं गवेषणीयः स च लोके निरपेक्षयाभिरत्या।। बोधचर्यावतार, 8-4

62. सोऽपश्यत् प्रणिधानेन संततेः स्तम्भकारणम्। रघुवंश 1-74
63. भारतीयदर्शन, पृ० 198 (बलदेव उ०)
64. न्यायसिद्धान्तमुक्तावली, कारिका 65-66 (प्रत्यक्ष खण्ड)
65. वही०, कारिका 66
66. वैशेषिक सूत्र, 10-2-13
67. न्यायसिद्धान्तमुक्तावली, पृ० 207, कारिका, 66 पर प्रभा टीका
68. प्रशस्तपादभाष्य, पृ० 627, 628
69. तस्माद्धर्मे स्वतःसिद्ध प्रमाणभावे"। सर्वदर्शनसंग्रह, पृ० 569
70. मानमेयोदय, 1-2
71. शास्त्रदीपिका, 1-1-5
72. अतः कर्मणो वा सूक्ष्मा काचिदुत्तरावस्था फलस्य वा पूर्वावस्थाऽपूर्वनामाऽस्तीति तर्क्यते। ब्रह्मसूत्रशाकंरभाष्य 3-2-40 तथा "सूक्ष्म शक्त्यात्मकं वा तत् फलमेवोपजायते।" तंत्रवार्तिक, पृ० 305
73. "तदस्य त्रिविधिस्यापि बन्धस्य आत्यन्तिको विलयो मोक्षः।" शास्त्रदीपिका, पृ0 35
74. श्वेताश्वतरोपनिषद्, 4-5
75. "समाहितचित्तस्य प्रज्ञाविवेक उपावर्तते।
येन यथार्थं वस्तु जानाति।" पातञ्जल योगसूत्र, 1-20 पर व्यास भाष्य।
76. वही० 1-48
77. आगमेनानुमानेन ध्यानाभ्यासरसेन च।
त्रिधा प्रकल्पयन्प्रज्ञांलभते योगमुत्तमम्।। वही०, व्यास भाष्य
78. वही० 1-50 पर व्यासभाष्य
79. वही, 3-33
80. वही०, 3-36 पर व्यासभाष्य
81. आत्मा तु प्रमाणादिव्यवहाराश्रयत्वात्त प्रागेव प्रमाणादिव्यवहारात् सिध्यति। ब्रह्म सूत्र, 2-3-7 पर शांकरभाष्य
82. ऐतरेयोपनिषद्, 2-1 पर शांकरभाष्य
83. पातञ्जल योग सूत्र 3-16
84. वेदान्त परिभाषा, पृ० 98
85. माण्डूक्यकारिका, 3-46 पर शाकंरभाष्य।
86. तत्त्वमस्यादिवाक्योत्थं ज्ञानं मोक्षस्य साधनम्।" सिद्धांतलेशसग्रंह पृ० 496
87. अखण्डाकारकं ज्ञानमाचख्युस्तत्रिवर्तकम्। वही, 3-32
88. वही० पृ० 525
89. तैत्तिरीयोपनिषद्, 3-6-1
90. "रत्याद्यविच्छन्ना भग्नावरणा चिदेव रसः।" रसगंगाधर, प० 96
91. वही० पृ० 96

सप्तम - उन्मेष

"भारतीय काव्य-शास्त्र में प्रतिभा-दर्शन"

वस्तुतः संस्कृत काव्य-शास्त्र जब उदय होकर प्रौढ़ता को प्राप्त कर रहा था तो प्रत्यभिज्ञामत के शैवाचार्य अपनी शिव-दृष्टि के अनुकूल ही शब्दार्थसाहित्यवाद, अंलकारवाद, आनन्दवाद, अभिव्यक्तिवाद, ध्वनिवाद एवम् प्रतिभा-स्वातन्त्र्यवाद जैसी साहित्यिक स्थापनाओं से उसे पुष्ट कर रहे थे। इस दृष्टि से महामाहेश्वर अभिनवगुप्त एवम् भामह, रुद्रट, मम्मट, वामन आदि काश्मीरी आचार्य काव्य-प्रतिभा के विषय में अपने मौलिक विचार देने के कारण, प्रमुख रूप से उल्लेखनीय हैं। रससूत्र के व्याख्याकार भट्टनायक और महिमभट्ट ध्वनि-सिद्धान्त के विरोधी होने के कारण, कुन्तक अपने वक्रोक्तिवाद के कारण तथा क्षेमेन्द्र अपने औचित्यवाद के कारण काश्मीरी होते हुए भी सम्पूर्ण भारतीय काव्यशास्त्र को जो उपहार दे गए हैं वह विश्वसाहित्य में प्रतिभा का अद्भुत प्रकाशन है।

भारतीय काव्यशास्त्र का आलोचन करने से भी ऐसा लगता है कि प्रतिभा की धारणा में समस्त शास्त्रों, दर्शनों, धर्मों, विज्ञानों, कलाओं एवम् व्यवहारों का किसी न किसी स्तर पर समन्वय अवश्य हुआ है। अतः मम्मट ने अपने काव्य-प्रयोजनों में "यशसे अर्थकृते" से लेकर "सद्यःपरनिर्वृतये" तक पहुंचते पहुंचते सभी दृष्टियों को समेट दिया है। काव्यकारणों के वर्गीकरण में भी इन आचार्यों का समन्वयवादी दृष्टिकोण इसी प्रकार उभर कर आया है जिससे प्रमुख काव्य-कारणों में से प्रतिभा-सम्बंधी काव्य-सिद्धान्त का उन्मेष भारतीय काव्यशास्त्र में खुलकर हुआ।

वस्तुतः काश्मीर में जिन दिनों केसर और कविता के सौन्दर्य का वैभव एक साथ उमड़ रहा था, उन दिनों वहां की घाटियों की हवाओं में, झीलों के जल में शैवों की प्रत्यभिज्ञा और त्रिपुरातंत्र की प्रतिभा एक साथ मिलकर भारतीय दर्शन और काव्य को एक नया रूप और नये आयाम दे रहे थे। प्रतिभा की बात एक ओर तो विमर्शरूपिणी पराशक्ति के रूप में, शैव अध्यात्म शास्त्र में हो रही थी और दूसरी ओर शाक्तों में उसी प्रतिभा को मनोविज्ञान के स्तर पर व्याख्यात करने का प्रयत्न हो रहा था। अभिनवगुप्त, वामन की प्रतिभा सम्बंधी इस धारणा को कि "प्रतिभा कोई जन्मान्तर का संस्कार विशेष है।", अपनी अभिनव भारती में यह कह कर समर्थन दे रहे थे कि वह संस्कार कोई "अनादि प्राक्तन संस्कार प्रतिभानमय चेतना है।"[1] हो सकता है कि प्रतिभा के विषय में यह सब कहते समय इन आचार्यों के सम्मुख प्रकारान्तर से आधुनिक मनोविज्ञान के अचेतन मानस की छिपी भूमिका का रूप भी कहीं एकदम स्पष्ट हो रहा हो किन्तु अचेतन मानस की तहों में भी कहीं गहरे चितिशक्ति (चेतनमन नहीं) का ही संचार देखकर आनन्दवर्धन ने एक कदम और आगे रख कर कहा

हो कि "महाकवियों की वाणी में अति मधुर अर्थों का निष्यन्द अलोकसामान्य प्रतिभा के परिस्फुरण के अतिरिक्त और कुछ नहीं।[2] भले ही लोक में वह पूर्ववासना के गुणों से अनुबद्ध होकर प्रकट होता है।[3] अतः यह निश्चित है कि इन आचार्यों ने प्रतिभा के पराभौतिक और मनोवैज्ञानिक दोनों रूपों का खुल कर साक्षात्कार किया था। प्रकाश से विमर्श के अवतरित होने का यह रहस्य काव्यशास्त्रियों को हो चुका था।

विमर्श का अर्थ है - पूर्ण अकृत्रिम अहम् की स्फूर्ति। यह स्फूर्ति सृष्टिकाल में विश्वाकार, स्थितिकाल में विश्व-प्रकाश तथा संहारकाल में विश्वसंहरण रूप में विद्यमान रहती है।[4] प्रतिभा इसी स्फूर्ति की अपर संज्ञा है। शिव की यह पराशक्ति शिव में ही सतत विश्राम करती है और अपने रूप को प्रकटित करने की क्रिया के द्वारा विश्व का उन्मीलन करती है।[5] इस पराप्रतिभा का ही अंश कवि हृदय में रहता है जिसके कारण से वह विचित्र अपूर्व काव्य-सर्जना करने में समर्थ होता है।[6] लेकिन इस प्रतिभा का बीज मानव-हृदय में किस प्रकार या किस कारण से उगता है यह रहस्य है। दण्डी प्रतिभा को पूर्वजन्म की वासना के गुणों से सम्बद्ध बतलाते हैं।[7] और वामन भी जन्मान्तर संस्कार को ही प्रतिभा मानते हैं।[8] इसकी पुष्टि अभिनवगुप्त भी अभिनव-भारती में करते हैं।[9] जगन्नाथ प्रतिभा के उदय के लिए दो अन्य कारण बताते हैं - प्रथम-किसी देवता के प्रसाद या महात्मा के अनुग्रह से अदृष्ट का उदय तथा दूसरे अधिक अभ्यास हो जाने पर अकस्मात् कवित्व का उदय हो जाना।[10] हेमचन्द्र की व्याख्या भी लगभग कुछ इसी प्रकार की है। वे भी प्रतिभा के दो भेद मानते हैं – जन्मजात (सहजा) तथा कारणजन्य औपाधिकी[11]। आनन्दवर्धन व्युत्पत्ति तथा अभ्यास, दोनों साधनों से बढ़कर प्रतिभा की अहैतुकी उपयोगिता को काव्य में स्वीकार करते हुए कहते हैं कि महाकवियों की वाणी मधुर अर्थ का निष्यन्द करती हुई अलोकसामान्य तथा परिस्फुरणशील प्रतिभा विशेष की अभिव्यक्ति करती है।[12]

कवित्व के दो आधार-स्तम्भ हैं - दर्शन और वर्णन। भट्टतौत कहते हैं कि जो ऋषि नहीं वह कवि भी नहीं होता और कोई भी ऋषि बिना दर्शन के नहीं हुआ करता और दर्शन वह है जिसके द्वारा विचित्र भावों, धर्मों और तत्त्व का बोध होता है। तत्त्व का दर्शन करने वाला होने से ही शास्त्रों में उसे कवि कहा गया है। इस तत्त्वदर्शन का वर्णन-कर्त्ता होने के कारण ही लोक में कवि के कृतिकर्म को इस रूप में प्रसिद्धि मिली है। अभिप्राय यह कि किसी कवि का दर्शन जब तक वर्णन में नहीं उतरता तब तक प्रतिभा के उदय का पता नहीं चलता। आदिकवि वाल्मीकि का दर्शन भी वर्णन में आए बगैर अप्रकाशित ही रह जाता और वर्णन का सामञ्जस्य होने पर ही कविता की स्फूर्ति होती है।[13] दर्शन और वर्णन का हेतु क्या है, वह हेतु प्रतिभा है। क्योंकि भामह के अनुसार जड़ बुद्धिवाला भी पुरुष गुरू के उपदेश से शास्त्र अच्छी तरह पढ़ सकता है। परन्तु काव्य की स्फूर्ति उसी

व्यक्ति को होती है जो प्रतिभा से सम्पन्न होता है।[14] इस प्रकार दर्शन और वर्णन के कारण प्रतिभा के दो पक्ष दृष्टिगोचर होते हैं –

1. दृष्टि पक्ष
2. सृष्टि पक्ष

इन दो पक्षों की व्याख्या से पहले, भारतीय काव्याचार्यों के सन्दर्भ में प्रतिभा के जिन काव्यसम्बंधी पक्षों का उद्घाटन होता है, उस पर दृष्टिपात करना आवश्यक प्रतीत होता है। भट्टतौत काव्य के अर्थतत्त्व को ही काव्य का चरम प्रतिपाद्य मानकर नए-नए अर्थों का उन्मेष करने वाली प्रज्ञा को ही प्रतिभा मानते हैं।[15] परन्तु आचार्य कुन्तक प्रतिभा को एक विशिष्ट संस्काराशय का फल मान उसे पूर्वजन्म तथा इस जन्म के संस्कार के परिपाक से पुष्ट होने वाली कोई विलक्षण कवि-शक्ति ही कहते हैं।[16] रीति के प्रसिद्ध आचार्य वामन को प्रतिभान या प्रतिभा कवित्व का वह बीज लगता है जो पूर्व जन्म से आने वाला संस्कार है जो वासना रूप से कवि के हृदय में ही रहता है।[17] भट्टगोपाल तो मानो वामन के स्वर को ही पुष्ट करते हुए कहते हैं कि प्रतिभा कवित्व का बीज अर्थात् उपादान रूप संस्कारविशेष ही है। जिस प्रकार वृक्ष को देखने से बीज की कल्पना की जाती है उसी प्रकार काव्य रूपी कार्य के ॒ारा उस वासनाशक्ति की सत्ता का अनुमान किया जाता है।[18] किन्तु प्रतिभा का क्या कोई प्रकट रूप भी सहृदयों को प्रत्यक्ष होता है इस पर पण्डितराज जगन्नाथ रमणीय अर्थ के प्रतिपादक शब्द-सर्जन पर बल देकर कहते हैं कि "जिनसे काव्य बन सके" ऐसे शब्दार्थों की उपस्थिति ही प्रतिभा है।[19] किन्तु यहां हमें पण्डितराज की प्रतिभा की ठोस पारिभाषिकता की अपेक्षा रुद्रट का यह मत अधिक सहज लगता है कि - प्रतिभा से एकाग्रचित होने पर अर्थों का अनेक प्रकार से विस्फुरण होता है तथा कमनीय पद स्वयम् कवि के सामने प्रतिभासित होते हैं। जिस पदार्थ के द्वारा यह अपूर्व घटना घटित होती है उसी का नाम शक्ति (प्रतिभा) है।[20] वस्तुतः नव्यन्याय की पारिभाषिकता से प्रभावित पण्डित राज की अपेक्षा हमें प्राचीन काव्य मीमांसक गण यह कहते हुए अधिक संगत लगते हैं कि प्रतिभा वह वस्तु है जो काव्य के समग्र उपकरणों को शब्द समूह, अर्थ-पुंज, अंलकार, उक्ति प्रकार आदि को कवि के हृदय में प्रतिभासित करती है जिससे ये सब पदार्थ उसके मानस - नेत्र के सामने झटिति अभिव्यक्त हो जाते हैं।[21]

राजशेखर ने प्रतिभा को दो भागों में विभक्त किया है – कारयित्री और भावयित्री। कवि को काव्यकर्म में सीधे उपकार करने वाली प्रतिभा कारयित्री कही जाती है।[22] वह तीन प्रकार की है –

1. सहजा – पूर्वजन्म के संस्कारों से प्राप्त जन्मजात प्रतिभा।[23]

2. आहार्या – शास्त्रों एवम् काव्यों के अभ्यास से उत्पन्न प्रतिभा।[24]

3. औपदेशिकी – मन्त्र, तन्त्र, देवता, गुरु आदि के वरदान से प्राप्त प्रतिभा।[25]

भावयित्री प्रतिभा भावक या सहृदय आलोचक का भावन-कर्म या रसास्वादन में उपकार करती है अतः उसका नाम भावयित्री है।[26]

प्रतिभा – दृष्टि पक्ष –

काव्य में दो त्रिक सुस्पष्ट बनते हैं –

1. कवि, कविता, प्रतिभा
2. सहृदय, भावना, प्रतिभा

प्रथम त्रिक में कवि के क्रान्तदर्शित्व का कारण प्रतिभा है। क्योंकि प्रतिभा के कारण ही कवि कविता का साक्षात्कार करता है। क्योंकि सामान्य जगत् की साधारण घटना को भी कवि अपनी प्रतिभा से काव्य-रूप में उपस्थित करता है जिससे विलक्षण रचना का उदय होता है। मंत्रद्रष्टा ऋषियों से लेकर आधुनिक समकालीन कवियों तक एक ही सूत्र रहा है - पहले दर्शन फिर उस दर्शन का वर्णन।[27] इसलिए सम्भवतः श्रुति में कहा है कि "उसने ईक्षण किया।[28] और ईक्षण के बाद उसने इच्छा की कि मैं एक से बहुत हो जाऊँ[29] और वह ईक्षण स्थिति या प्रकाश में आ गया। अतः यह जगत् उस परमशिव रूपी कवि की कविता ही है जिसको उसने विमर्श-रूपी प्रतिभा से ईक्षण कर उन्मीलित किया। ठीक इसी प्रकार का कार्य कवि का है।

द्वितीय त्रिक में भी प्रतिभा ही आलोचक को सहृदय बना कर कथा या काव्य का अनुशीलन करने में, समालोचन एवम् रसास्वादन में प्रेरित करती है। दृष्टिपक्ष के विषय में महिमभट्ट का यह कथन महत्त्वपूर्ण है कि पदार्थ के विशिष्ट रूप का ही कवि को प्रत्यक्ष होता है और वही सत्कवि की प्रतिभा-जनित वाणी का भावक को प्रत्यक्ष कराता है। यह ठीक है कि पदार्थ के दो रूप होते हैं - सामान्य और विशिष्ट। सामान्य रूप तज्जातीय समस्त पदार्थों में रहने वाला रूप है। विशिष्ट रूप उसी विशिष्ट पदार्थ में अन्तर्निविष्ट होने वाला रूप है। साधारण जन पदार्थ के सामान्य रूप के ही ग्रहण करने में व्यस्त रहता है। उतने से ही उसके योगक्षेम का निर्वाह होता है। उसका लोकव्यवहार उतने से ही सुचारु रूप से चलता है। व्यक्ति-विवेक का कहना है कि पदार्थ के इस विशिष्ट रूप का ही अवगमन कवि करता है और वह भी प्रतिभा के सहारे ही।[30] जब कवि सरस काव्य-चिन्तन में दत्तचित्त होकर समाहित होता है, रसानुकूल शब्द और अर्थ की चिन्ता के हेतु उसका चित्त एकाग्र

हो जाता है, तब उसकी प्रज्ञा क्षण भर के लिए पदार्थ के सच्चे स्वरूप को स्पर्श करती हुई जागृत होती है। वही चित्त का जागरण प्रतिभा है। यह शिव का तृतीय नेत्र है। इसी के द्वारा कवि त्रैलोक्यवर्ती भावों को तीनों लोकों में होने वाली घटनाओं तथा वस्तुओं के रूप में साक्षात्कार करता है।[31]

प्रतिभा सृष्टिपक्ष –

इस अपार काव्यसंसार का निर्माता कवि है। उस कवि रूपी प्रजापति की इच्छा और रूचि के अनुसार ही इस काव्य संसार की रचना होती है।[32] लेकिन प्रजापति भी अपने में ही स्थित उपादान कारणों से सृष्टि-क्रिया में समर्थ होता है जबकि कवि बिना कारण-कलाप के ही अपूर्व वस्तु का निर्माण करता है।[33] इसीलिये नियति के द्वारा निर्धारित नियमों से रहित केवल आनन्दमात्र स्वभाव वाली अन्य किसी के अधीन न रहने वाली तथा नौ रसों से मनोहारिणी काव्यसृष्टि की रचना करनेवाली कवि की भारती सर्वोत्कर्षशालिनी है,[34] जिसमें कवि-प्रतिभा का ही चरम उत्कर्ष रहता है।[35] कविता में जो कुछ भी चमत्कार होता है वह सब प्रतिभा के द्वारा ही उत्पन्न होता है।[36]

प्रतिभा किस आधार पर निर्माण करती है ? उत्तर है कि काव्य में जिन पदार्थों के स्वरूप का वर्णन कवि करता है वे असद्-रूप नहीं होते। जगत् में वे केवल सत्तामात्र से स्फुरित होते हैं। कवि अपनी प्रतिभा के सहारे उनमें अनिर्वचनीय अतिशयता उत्पन्न कर देता है जिसके कारण काव्य में सहृदयहृदय-हारिणी रमणीयता का उदय हो जाता है।[37] अतः कवि कविता में पदार्थ के स्वरूप का निर्माण नहीं करता, प्रत्युत प्रतिभाशक्ति के बल पर वह केवल अतिशय निर्माण कर देता है।[38] अतिशय-विधान ही प्रतिभा का केवल कार्य है।[39] इसीलिए कहा है कि पदों के विन्यास भी वही होते हैं अर्थ की विभूतियां वे ही होती है तथापि ग्रथन, गुम्फन या विन्यास की कुशलता से ही काव्यनवीन होता है। समग्र कुशलता कवि के प्रतिभा-व्यापार की है जिसके कारण परिचित तथा पूर्वज्ञात भी वस्तु नवीन तथा अपूर्व रूप में उद्भासित होती है।[40]

उपर्युक्त अध्ययन में हमें स्पष्ट पता चलता है कि भारतीय काव्यशास्त्र के आचार्यो ने प्रतिभा के विषय में चिन्तन करते हुए वही पद्धति अपनायी है जिस पद्धति को हमारे दार्शनिकों ने अपनाया था। दार्शनिकों ने परमतत्त्व का अनुसंधान करते हुए उसके दो पक्षों को स्थूलतः उद्घाटित किया था –"मूर्तंचैवामूर्तंच" - जिससे यह ज्ञात हुआ कि तत्त्व की एक कारण-अवस्था रहती है और दूसरी कार्यावस्था रहती है। कारणरूपता में वह परम हो जाता है और कार्य रूप में वह आविर्भाव, तिरोभाव आदि धर्मों को ओढ़ कर क्रीड़ा करता है। ठीक इसी प्रकार काव्य-शास्त्र में प्रतिभा के भी दो रूपों पर ही आचार्यों का ध्यान रहा

है। कुछ आचार्य उसके कारण रूप पर अधिक बल दे रहे हैं। तो दूसरे उसके कार्य-रूप व्यावहारिक पक्ष पर। कोई उसे प्राक्तन अपूर्व संस्कार के रूप में जानना चाहते हैं तो कोई उसे शब्दार्थोपस्थिति के रूप में मूर्त हुआ देखना चाहते हैं। कारण-रूपा प्रतिभा शैवों के अनुसार प्रकाशात्मक परब्रह्म के साथ सदा ही जुड़ी रहती है जबकि कार्य रूपा प्रतिभा परब्रह्म के साथ लगी रह कर भी अपनी स्फुरत्ता के बल पर नई से नई रचना करती रहती है।[41] सम्पूर्ण रचनाएं एवम् कलाकृतियां उस कार्य रूपा प्रतिभा की ही अनन्त मूर्तियां हैं। शब्द और अर्थ का विमर्श शैवों और शाक्तों के अनुसार प्रकाश, आनन्द और चिन्मयता के ही अधीन हैं। ललितासहस्रनाम पर लिखित सौभाग्यभास्कर भाष्य में कहा गया है कि वाचक शब्दों का और वाच्य अर्थों के प्रकाश के बिना किस पर विमर्श (प्रकटन) होगा। इसलिए स्फुरण के लिए विमर्श को प्रकाश की अपेक्षा है और प्रकाश को अपनी पूर्णहन्ता के ज्ञान के लिए विमर्श की आवश्यकता है।[42] काव्यशास्त्रियों ने प्रतिभा के जिस दृष्टिपक्ष और सृष्टिपक्ष का वर्णन किया है वह शैवों की शाक्तों की इसी प्रकाशविमर्शमयी कल्पना की अभिव्यक्ति है जिसे मातृकाचक्र विवेक में विमर्श को संसरण-स्वभाव या गतिशील तथा प्रकाश रूप शिव को विश्रामशील या स्थिति रूप कहा है। विमर्श शक्ति स्वेच्छा या स्वातंत्र्य से सृष्टि का उद्वमन भी करती है निगिरण भी "संसरणस्वभावो विमर्शो, विश्रमणस्वभावः प्रकाशः शिवः। विचित्र विश्वोद्वमन-अनुचर्वण क्रिया तदुन्मेषनिमेषसम्भ्रमा विमर्शशक्तिः।"

भारतीय काव्य-शास्त्र के छः प्रमुख सम्प्रदायों में से जिन दो सम्प्रदायों का सर्वाधिक महत्त्व है वे दोनों ही प्रकाश-विमर्श, चिन्मयता और आनन्द की भाषा को समझने वाले रहे हैं। इन दोनों में से प्रतिभा का सीधा सम्बंध रस और ध्वनि सम्प्रदाय से है। रस-दृष्टि प्रतिभा की यदि चेतना है तो ध्वनि तत्त्व उस प्रतिभा की ध्वननशक्ति, अभिव्यक्ति या स्फुरत्ता शक्ति है। जब रस के आचार्य रस की व्याख्या 'प्रकाशानन्दचिन्मयः' और 'लोकोतरचमत्कारप्राणः' कह कर करते हैं तो उसकी कुंजी शैव-शाक्त परम्परा में खोजनी चाहिए न कि शुष्क तार्किक अद्वैत वेदान्त में। इसी प्रकार जब अर्थ अपने को अथवा शब्द अपने अर्थ को गौण बना कर प्रतीयमान अनुभूतियों की श्रृंखला को आगे से आगे बढ़ाते हुए तरंग से तरंग के आविर्भाव की निरन्तर स्थिति पैदा करने लगते हैं तो वे प्रतिभा के अनादि और अनन्त नृत्य में बज रहे नुपूरों का ही प्रतिनिधित्व करते हैं। अतः यह कहना समीचीन ही होगा कि वैदिक काल से लेकर शैव-शाक्त - आगम परम्परा के विकास पर्यन्त हमारे सम्मुख जो कुछ भी चिन्तन रस और ध्वनि को लेकर हुआ है उसकी पृष्ठभूमि में सामरस्य सम्बंध से शक्तिविशिष्ट शिव का ही विमर्शरूप स्फुरण है।[44]

– सन्दर्भ –

1. अभिनवभारती, खण्ड 1 पृ० 346

2. सरस्वती स्वादु तदर्थवस्तु निस्यन्दमाना महतां कवीनाम्।
अलोकसामान्यमभिव्यनक्ति परिस्फुरन्तं प्रतिभाविशेषम्।। ध्वन्यालोक, 1-6

3. गुणानुबंधी प्रतिभानमद्भुतम्। काव्यादर्श, 1-104

4. विमर्शो नाम विश्वाकारेण विश्वप्रकाशेन विश्वसंहरणेन च अकृत्रिमाहमिति स्फुरणम्। पराप्रवेशिका, पृ० 2 पर उद्धृत

5. यदुन्मीलनशक्त्यैव विश्वमुन्मीलति क्षणात्।
स्वात्मायतनविश्रान्तां तां वन्दे प्रतिभां शिवाम्।। ध्वन्यालोक लोचन, पृ० 60 कारिका 6 पर

6. "कवेरपि स्वहृदयायतनसततोदितप्रतिभाभिधानपर वाग्देवता-नुग्रहोत्थित विचित्रापूर्वनिर्माणशक्तिशालिनः प्रजापतेरिव कामजनितजगतः।" अभिनव भारती, भाग-1, पृ० 4

7. न विद्यते यद्यपि पूर्ववासनागुणानुबन्धिप्रतिभानमद्भुतम्।" श्रुतेन यत्नेन च वागुपासिता ध्रुवं करोत्येवंकमप्यनुग्रहम्" काव्यादर्श 1-104

8. "जन्मान्तरसंस्कारविशेषः कश्चित्।" वामन

9. "अनादिप्राक्तनसंस्कारप्रतिभानमयः।" अभिनवभारती, खं० 1, पृ० 346

10. "तस्याश्च (प्रतिभायाः) हेतुः क्वचिद् देवता महापुरुषप्रसाददिजन्यम्-अदृष्टम्। क्वच्चित् विलक्षणव्युत्पत्ति काव्याकरणाभ्यासौ। न तु त्रयमेव। नापि केवलमदृष्टमेव कारणमित्यपि शक्यं वक्तुम्। कियन्तंचित् कालं काव्यं कर्तुमशक्नुतः कथमपि संजातयोर्व्युत्पत्त्यभ्यासयोः प्रतिभायाः प्रादुर्भावस्य दर्शनात्।" रसगंगाधर, पृ० 8

11. काव्यानुशासन, पृ० 5-6

12. सरस्वती स्वादु तदर्थवस्तु निस्यन्दमाना महतां कवीनाम्।
अलोकसामान्यमभिव्यनक्ति परिस्फुरन्तं प्रतिभाविशेषम्।। ध्वन्यालोक, 1-6

13. नानृषिः कविरित्युक्तं ऋषिश्चकिल दर्शनात्।
विचित्रभावधर्मांशतत्त्वप्रख्या च दर्शनम्।।
स तत्त्वदर्शनादेव शास्त्रेषु पठितः कविः।
दर्शनात् वर्णनाच्चाथ रूढा लोके कविश्रुतिः।।
तथाहि दर्शने स्वच्छे नित्येऽप्यादिकवेर्मुनेः।।
नोदिता कविता लोके यावज्जाता न वर्णना।। काव्यानुशासन, पृ० 316 पर उद्धृत

14. गुरूपदेशादध्येतुं शास्त्रं जडधियोप्यलम्।
काव्यं तु जायते जातु कस्यचित् प्रतिभावतः।। काव्यालंकार, 1-8

15. प्रज्ञा नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा मता - भट्ट तौत

16. प्राक्तनाद्यतनसंस्कार - परिपाकप्रौढ़ा काचिदेव कविशक्तिः। वक्रोक्ति-जीवित, पृ० 49

17. कवित्व बीजं प्रतिभानम्। कवित्वस्य बीजं कवित्वबीजम्, जन्मान्तरागतसंस्कारविशेषः कश्चित्। यस्माद्विना काव्यं न निष्पद्यते। निष्पन्नं वा हास्याऽऽयनं स्यात् काव्यालंकार सूत्र पर वृत्ति, 1-3-16

18. कवित्वस्य लोकोत्तरवर्णनानैपुण्यलक्षणस्य बीज-मुपादानस्थानीयः संस्कारविशेषः। कार्यकल्पनीया काचिद्वासनाशक्तिः। वही, 1-3-16 पर टीका।

19. सा (प्रतिभा) च काव्यघटनानुकूलशब्दार्थोपस्थितिः। रसगंगाधर, पृ० 27
20. मनसि सदा सुसमाधिनि, विस्फुरणमनेकधामिधेयस्य अक्लिष्टानि पदानि च विभान्ति यस्यामसौ शक्तिः।। काव्यालंकार, 1-15 रुद्रट
21. या शब्दग्रामं, अर्थसाथर्म्, अलंकार-तन्त्रम् उक्तिमार्गम् अन्यदपि तथाविधमधिहृदयं प्रतिभासयति सा प्रतिभा। अप्रतिभस्य पदार्थसार्थः परोक्ष एव। प्रतिभावतः पुनः अपश्यतोऽपि प्रत्यक्ष एव।" काव्यामीमांसा पृ० 11-12
22. सा च द्विधा कारयित्री भावयित्री च। कवेरुपकुर्वाणा कारयित्री। वही, पृ० 30
23. जन्मांतरसंस्कारापेक्षिणीसहजा। वही०
24. जन्यसंस्कारयोनिनिराहार्या।" वही०
25. मन्त्रतंत्राद्युपदेशप्रभवा औपदेशिकी।" वही०
26. भावकस्योपकुर्वाणा भावयित्री। वही०, पृ० 32
27. काव्यानुशासन, पृ० 379
28. 'तदैक्षत'। छान्दोग्योपनिषद्, 6-10-3
29. एकोऽहं बहुस्याम्। वही०
30. विशिष्टमस्य यद्रूपं तत् प्रत्यक्षस्य गोचरम्।
स एव सत्कविगिरां गोचरः प्रतिभाभुवाम्।। व्यक्तिविवेक
31. रसानुगुणशब्दार्थ-चिन्तास्तिमितचेतसः।
क्षणं स्वरूपस्पर्शोत्था प्रज्ञैव प्रतिभा कवेः।।
सा हि चक्षुर्भगवस्तृतीयमिति गीयते।
येन साक्षात् करोत्येष भावाँस्त्रैलोक्यवर्तिनः।। वही०, पृ० 390
32. अपारेकाव्यसंसारे कविरेकः प्रजापतिः।
यथास्मै रोचते विश्वं तथेदं परिवर्तते। ध्वन्यालोक, पृ० 312 पर उद्धृत
33. "अपूर्वं यद् वस्तु प्रथयति विना कारणकलाम्।" ध्वन्यालोकलोचन, मंगलशोक
34. नियतिकृतनियमरहितां ह्लादैकमयीमनन्यपरतंत्राम्।
नवरसरुचिरां निर्मितिमादधती भारती कवेर्जयति।। काव्य प्रकाश, 1-1
35. "कवि प्रतिभाप्रौढिरेव प्राधान्येनावतिष्ठते।" वक्रोक्ति जीवित, पृ0 13
36. यत् किंचनापि वैचित्र्यं तत् सर्वं प्रतिभोद्भवमेव।" वही0, पृ0 48
37. यत्र वर्ण्यमानस्वरूपाः पदार्थाः कविभिरभूताः सन्तः क्रियन्ते।
केवलं सत्तामात्रेण परिस्फुरतां चैषां तथाविधः कोऽप्यतिशयः पुनराधीयते, येन कामपि सहृदयहृदयहारिणीं रमणीयतामध्यारोप्यते। वही०, पृ० 140
38. भारतीय साहित्यशास्त्र, पृ० 446
39. प्रस्तुतातिशयविधानमन्तरेण न किंचदपूर्वमत्रास्ति। वक्रोक्तिजीवित, पृ० 143
40. त एव पदविन्यासास्तएवार्थविभूतयः।
तथापि नव्यं भवति काव्यं ग्रथनकौशलात्।" वक्रोक्तिजीवित, पृ० 143 पर
41. (क) प्रकाशात्मकस्य परब्रह्मणः स्वाभाविकं स्फुरणं विमर्श इत्युच्चते।"
(ख) स्वाभाविकी स्फुरत्ता विमर्शरूपाय विद्यते शक्तिः।

सैव चराचरमखिलं जनयति जगदेतदपि च संहरति।'' ललितासहस्रनाम 163 पर सौभाग्य भास्कर टीका में उद्धृत

42. वाचकेन विमर्शेन विना किंवा प्रकाश्यते।
वाच्येनापि प्रकाशेन विना किंवा विमृश्यते।।
तस्माद्विमर्शो विस्फूर्तौ प्रकाशं समपेक्षते।
-- प्रकाशश्चात्मनो ज्ञानं विमर्श समपेक्षते।। भारतीय प्रतीकविद्या, पृ० 181 पर उद्धृत

43. यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थसमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ।
व्यङ्क्तः काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः।। ध्वन्यालोक, 1-13

44. सामरस्येनसम्बन्धेन शक्तिविशिष्टः शिवः एव हि परं ब्रह्म।' ललितासहस्रनाम, 201 पर भास्करराय की टीका

अष्टम उन्मेष
त्रिक-दृष्टि एवम् सौन्दर्य-चेतना

मानव के हृदय में जब भी स्पन्दन हुआ तो उसने उस स्पन्दन को कभी काव्य में, कभी मूर्ति में, कभी नृत्य, चित्रकला इत्यादि के माध्यम से ग्रहण करने का प्रयत्न किया। लेकिन यह ग्रहण क्रिया कभी पूर्ण नहीं हुई। क्योंकि यदि रचना के माध्यम से स्पन्दन को पूर्णरूप से ग्रहण कर लिया जाता तो आगे आने वाली सारी मानव जाति के जीने की उत्साह-पूर्ण सम्भावनाएं नष्ट हो जातीं। लेकिन ऐसा हुआ नहीं। आदिकाल से ही रचनाएं होती आ रही हैं और भविष्य में भी होती रहेंगी। सम्पूर्ण मानवजाति उस स्पन्दन को, आनन्द की स्फुरत्ता को अपनी अपनी शक्ति के अनुसार बद्ध करने का प्रयत्न करती रही है और कर रही है। इसलिए रचनाएं अपने आप में पूर्ण होकर भी उस परम-तत्त्व के अंश-मात्र को ही ग्रहण कर सकी हैं। इसलिए मनुष्य के पास जीवन जीने की सम्भावनाएं शेष हैं। उस परम तत्त्व या परा संविततत्त्व को संपूर्णता से गृहीत करने की सम्भावनाएं जीव को पशु स्तर से ऊपर उठ कर जीवन जीने की प्रेरणा देती है। इस सम्भावना में ही जीवन का अर्थ निहित है और वह अर्थ सौन्दर्य है। क्योंकि सत्, चित्, आनन्द रूप सौन्दर्य की त्रिकता मानव को जीवन के प्रति अनन्त सम्भावनाएं, अपरिमित व्याख्याएं प्रदान करती है। क्योंकि त्रिक का अर्थ सबसे आगे रहने वाला गतिशील तत्त्व है।[1] इसलिए कभी चित्, कभी आनन्द, कभी सत् और कभी तीनों संयुक्त रूप से उस सम्भावना की ओर संकेत करते हैं जिसे आर्ष सौन्दर्य-दृष्टि ने विष्णु के चतुर्थ पाद के रूप में पुरुष सूक्त, नासदीय सूक्त, रात्रिसूक्त, वाक्सूक्त में देखा है। लेकिन कई भारतीय दर्शनों द्वारा इन अपरिमित सम्भावनाओं को मिथ्या मान कर एक मात्र ब्रह्म को या एक मात्र शून्य को या केवल परमाणुओं को या प्रकृति-पुरुष को अपना साध्य बना लिया गया। जिससे सारे भारतीय मानस के, भारतीय व्यवस्था के कर्म और ज्ञान में, योग और भोग में असंमजसता की स्थिति उत्पन्न हो गई। सभी ने अपने अपने अतिवाद के कारण भारतीय जीवन-पद्धति को अव्यवस्थित कर दिया, और समाज के लिए, लोक के लिए विशेष सिद्ध भी कुछ न हुआ।

ऐसे समय में शैव दर्शन ने आर्ष-दृष्टि को लेकर भौतिकता एवम् अति-भौतिकता, लौकिकता में अलौकिकता के प्रति सौन्दर्य-दृष्टि प्रदान की, जिस कारण से भौतिकता में अति भौतिकता, लौकिकता में अलौकिकता का समावेश हो सकता है, और अलौकिकता, अतिभौतिकता अमूर्त या अग्राह्य नहीं होने पाती। अतएव "योगश्च भोगश्च करस्थ एव" उक्ति की सार्थकता में कोई द्वन्द्व नहीं रहता। और जीव एवम् जीव-सृष्टि अतिवाद से पीड़ित नहीं होती। इस सहज दृष्टि का विकास करके वेदान्त के ब्रह्म में, मीमांसा के कर्म में, वैशेषिक

के अणु में, योग के चित्त में, न्याय की ज्ञान-मीमांसा में, सांख्य के प्रकृति-पुरुष में, बौद्धों के शून्य में उस समन्वय-धारा को प्राप्त कर जीव शिव-भाव में रहता हुआ जीवन के प्रति अनन्त सम्भावनाएं खोज लेता है। और वे सम्भावनाएं सौन्दर्य में निहित हैं।

वस्तुतः सौन्दर्य शब्द सुन्दर की भाववाचक संज्ञा है। वाचस्पत्यम् कोश के अनुसार "सु" उपसर्ग पूर्वक "उन्द" में "अरन्" प्रत्यय संयोजित करने से बनता है। "नन्द" धातु से भी सुन्दर की व्युत्पत्ति मानी गई है, जिसके अनुसार सुन्दर का अर्थ होता है - भली प्रकार प्रसन्न करने वाला। शब्दकल्पद्रुम के अनुसार सुन्दर का व्युत्पत्ति परक अर्थ है - "सुष्ठुआर्द्रीकरोति चित्तमिति" अर्थात् जो भली प्रकार चित्त को आर्द्र करता है। डा० एस. टी. नरसिंहाचारी वैदिक साहित्य में सौन्दर्य के लिए "सूनर्" का प्रयोग देखकर ऐसा अनुमान करते हैं कि वैदिक काल में सौन्दर्य के अर्थ की व्याप्ति प्राणि-जगत् तक ही सीमित रही होगी। लौकिक वाङ्मय में इस अर्थ का विस्तार हुआ और वह सभी मूर्त वस्तुओं के सौन्दर्य का द्योतक बना। प्रायः महाकवियों ने उसे जब रमणीयता, मधुरता और चारूता के रूप में वर्णित किया तो उसके कई आयाम स्फुट होने शुरू हो गए। रमणीयता के साथ क्षण-क्षण में नई नई उदय होने वाली अनुभूति को सौन्दर्य के रूप में देखा गया[2] जब कि मधुरता को प्राकृतिक या सहज अनलंकृत आकृति के रूप में देखा गया।[3] कुमार-सम्भव में चारुता को सौन्दर्य का एक अन्य आयाम माना गया है[4] और कहा गया कि चारुता स्त्रियों में वह गुण है, जिससे सौभाग्यरूपी फल की प्राप्ति होती है। इस प्रकार हम देखते हैं कि हमारे महाकवि प्राकृतिक सौन्दर्य के वर्णन के लिए एक अन्य शब्द का भी प्रयोग करते हैं जिसे सुषमा कहा जा सकता है। सम्भवतः इन महा-कवियों के शब्द प्रयोगों की पृष्ठभूमि में शैवों और शाक्तों के द्वारा कल्पित शिव और शक्ति के वे सभी आयाम विद्यमान थे जिन्हें आगमचार्यों ने लालित्य, लक्ष्मी, सौभाग्य, कमनीयता, लौहित्य आदि विभिंन्न रूपों में अन्तःसाधनाओं में या बाह्य अर्चाओं में प्रयुक्त किया था। लेकिन सौन्दर्य को उन लोगों ने समन्वित रूप में समरसता और लीला की पृष्ठभूमि में देखा था।[5] इसलिए उन्होंने सौन्दर्य के मानवीय रूप को अंगों का औचित्य पूर्ण यथोचित सन्निवेश तो मान लिया।[6] लेकिन द्रष्टा दर्शन या दृश्य की कोटियों का पृथक विश्लेषण करके वर्णन नहीं किया। क्योंकि उनकी दृष्टि में चिति का स्फुरण अथवा विमर्शन ही द्रष्टा, दृश्य, दर्शन की सत्ता का मूल है। अतः यदि आधुनिक विचारकों के अनुसार भी सौन्दर्य को इस तरह परिभाषित करें कि सृष्टि में कुछ ऐसे दृग्-विषय हैं जिनको देखकर हृदय में रस का संचार होता है — हम इन सब में जो मनोहारिता पाते हैं उसे ही सौन्दर्य कहते हैं।[7] अथवा अपनी अनुभूति, प्रत्यय, स्मृति, कल्पना आदि द्वारा आनन्द को उत्पन्न करने वाले वस्तु के गुण को सौन्दर्य कहते हैं।[8] अथवा सौन्दर्य को चेतना का उज्वल वरदान कहते हैं,[9] तो त्रिक दार्शनिकों की खींची हुई सौन्दर्य की परिधि

से हम बाहर नहीं चले जाते हैं। क्योंकि सम्पूर्ण जीवन के स्तरों पर, या मान्व-चेतना के समस्त चक्रों की पंखडियों पर जो रूपाकर्षिणी, रसाकर्षिणी, गन्धाकर्षिणी, स्पर्शाकर्षिणी और शब्दाकर्षिणी कलाओं के जो उन्मेष होते हैं उन सभी में परमभट्टारक कामेश्वर शिव की या पराभट्टारिका श्री सुन्दरी की चिद्रश्मियों का सतत् प्रवाह आन्दोलित होता हुआ नज़र आता है।[10]

व्यावहारिक दृष्टि से सौन्दर्य का प्रयोग सन्दर्भानुसार अनेक अर्थों में होता है -

1. दर्शनीय वस्तु के रूप की विशेषता के अर्थ में।
2. वस्तु के विशिष्ट मूल्य के अर्थ के रूप में।
3. रूप सौन्दर्य के द्वारा प्राप्त विशिष्ट आनन्दानुभूति के अर्थ में।
4. कला या साहित्य में भाव और कर्म की संवेद्य अभिव्यक्ति से प्राप्त आनन्दानुभूति के अर्थ में।
5. साहित्य और कलाओं में निहित अभिव्यक्ति की मार्मिकता के अर्थ में।[11]

शैवों ने सौन्दर्य को आत्माभिव्यक्ति मान कर प्रत्येक क्षण में, जीवन् के प्रत्येक क्षेत्र में, उस सौन्दर्य चेतना से लौकिक सौन्दर्य से अलौकिकत्व की प्राप्ति और अलौकिकत्व को लौकिक रूप में प्रस्फुटित करने का प्रयास किया है।

यहां एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न उठ सकता है, जो दार्शनिक दृष्टि से महत्त्व का हो सकता है। क्या सौन्दर्य कोई गुण-विशेष है? जैसे कि माधुर्य, ओज, प्रसाद, समता, कान्ति आदि काव्यगत् गुण होते हैं, अथवा सौन्दर्य कोई क्रिया-विशेष है, जिस क्रिया-विशेष में संस्कार की प्रधानता रहती है। जैसे कि वाक् या वाणी के सौन्दर्य में वैयाकरणों या कवियों द्वारा किए गए स्वर संस्कार या पद संस्कार उस में चारुत्त्व या उत्कर्ष का निबन्धन करते हैं ? तीसरा प्रश्न उठता है कि सौन्दर्य क्या कोई विशेष या तत्त्व-विशेष है जिसका उन्मेष ही संपूर्ण चमत्कृतियों, आह्लादों, उत्कर्षों एवं रस-बोधों का हेतु है ? अथवा पदार्थों का कोई समवाय - विशेष है, या सामान्यगत चारुत्व-विशेष, अथवा विशेष गत सामान्य का स्फुरण है ? इस प्रकार सौन्दर्य को लेकर शास्त्रगत कई विकल्प खड़े हो सकते हैं ? सामान्यतः सभी सहृदयजन इन्हीं शास्त्रगत विकल्पों में से किसी एक विकल्प को लेकर अपने अपने बोधों को सुसज्जित कर तदनुसार अपनी वासना को विषयों में सम्प्रेषित कर आनन्दानुभूति प्राप्त करते हैं। तथा उसी अनुभूति के संस्कार से संवलित बुद्धि से अपनी अपनी सौन्दर्य की अवधारणा को खड़ा कर लेते हैं। इसी का परिणाम हमें भारतीय काव्यशास्त्र में प्रतिफलित होता दिखाई देता है। कोई गुण विशिष्ट शब्दार्थ-विशेष को, तो कोई वैदर्भी आदि रीति-विशेष को तो कोई उपमा, रूपक, यमकादि अलंकार-विशेष को, तथा दूसरे लोग औचित्य-विशेष

को ही काव्य की अन्तरंग शक्ति मानने के लिए नितान्त उत्सुक हैं।

वस्तुतः ये सभी खण्डित दृष्टियां हैं। जैसे कि औचित्य में और पदसंघटना में, अंगों की उचित या ठीक ठीक व्यवस्थिति रूपा-रीति में क्या मौलिक अन्तर किया जा सकता है। अलंकार और गुणों में भी अन्तर करते समय यह प्रश्न आ खड़ा होता है कि क्या यमकादि शब्दालंकार और उपमा रूपक आदि अर्थालंकार माधुर्य, ओज प्रसाद आदि गुणों से या वैदर्भी, गौडी, पांचाली आदि रीतिमार्गों से कुछ मूलतः भिन्न हैं भी ? या केवल बुद्धिगत आडम्बर का आरोपण ही सौन्दर्य-सम्बंधी मान्यताओं को आगे पीछे खींचते खींचते शास्त्र बन गया है।[12] जैसा कि भर्तृहरि कहते हैं कि तत्त्व के ज्ञान की प्रक्रिया का विविध प्रकार का आविद्यिक विस्तार ही शास्त्र का प्रतिपाद्य बन जाता है "शास्त्रेषु प्रक्रिया भेदैरविद्यैवोपवर्णिता"। फिर ध्वनि और रस-सम्बंधी अवधारणाएं भी सौन्दर्य की ऐसी सर्वजनसम्मत व्याख्या नहीं करती जो नितान्त किसी नूतन तत्त्व की स्थापना करते हों। दोनों ही अवधारणाएं लोकोत्तरता या अलौकिक अनिर्वचनीयता के रहस्य की ओढ़नी लेकर स्वानुभूति को ही एक मात्र रस और ध्वनि को चखने का मानदण्ड मानती हैं।

इन सारी आपत्तियों का मूल एक ही है कि हम सौन्दर्य की व्याख्या में भावुकता या रसिकता को ही प्राधान्य देते आए हैं। हमने तनिक भी उस सौन्दर्य की दार्शनिक या तात्त्विक कल्पना का स्वरूप खड़ा नहीं किया। दर्शन से बचने के चक्कर में हम शब्द और अर्थ के केवल इन्द्रिय-संवेद्य व्यावहारिक प्रयोग के बोधों की ही भावुकतापूर्ण व्याख्याएं करते आए हैं। यदि कहीं किन्हीं आचार्यों ने इन व्याख्याओं को दर्शन के साथ जोड़ा भी है तो केवल उन्हीं भावुकता पूर्ण मान्यताओं का ढांचा कसने के लिए। केवल आनन्दवर्धन एक ऐसे आचार्य हैं जो सौन्दर्य को एक तत्त्व के रूप में व्याख्यात करते हैं। यह तत्त्व है शैवों और शाक्तों का कामतत्त्व, जिसकी व्याख्या अभी भी अपेक्षित है। जिसे "कामः कमनीयतां कान्तिः" के आलोक में अधिक सूक्ष्म रूप से विचारा जाना चाहिए। वस्तुतः कामतत्त्व, जिसे बौद्धों ने निर्वाण के मार्ग में, वेदान्तियों, योगियों और सांख्यों ने मोक्ष, समाधि और कैवल्यज्ञान में भयंकर अन्तराय के रूप में देखा, उसी काम को शैवों और शाक्तों ने एक तत्त्व के रूप में स्वीकार किया और भगवती को कामेश्वरी, सुन्दरेश्वरी एवम् शिव को कामेश्वर या सुन्दरेश्वर की उपाधि से अलंकृत किया। कामकलाविलास की काम की परिभाषा, एक शैव-शाक्त की दृष्टि से हम यहां अवश्य देखेंगे "काम्यते अभिलष्यते स्वात्मत्वेन परमार्थविद्भिर्महद्भियोगिभिरिति कामः"।

वैसे ऋग्वेद ने नासदीय सूक्त में वर्णित सृष्टि-प्रक्रिया के मूल में काम को द्वितीय तत्त्व के रूप में, परन्तु सृष्टि और सर्जन के आदितत्त्व के रूप में स्वीकारा जा चुका था।

क्योंकि सूक्त में "आनीदवातं स्वधया तदेकम्" की भावना में वह जो भी "तत्" या "सत्पुरुष" था, वह अपनी स्वधा नामक शक्ति से ही सांस ले रहा था।[13] जब कि सृष्टि से पूर्व कहीं कोई अन्य आदि तत्त्व की सम्भावना ही नहीं थी। तभी इस सूक्त के ऋषि को सूझता है कि इस शून्यता या शवता के ही समकक्ष पुरुष की निस्पृह और निर्जीव सी व्यापकता में से एक तिरछी सी प्रकाश और कान्ति की कमनीय किरण उस अन्तरिक्ष में ऊपर से नीचे तक फैल गई। ऋषि आगे कहते हैं - "कामस्तदग्रे समवर्तताधि"[14] अर्थात् सृष्टि के आदिमूल की स्थिति में काम ही सर्वप्रथम उपस्थित हुआ। यह काम-शक्ति ही अपनी कमनीयता एवम् स्पृहणीयता के कारण कामेश्वरी एवम् शून्य-पुरुष इसी के सान्निध्य से कामेश्वर के रूप में सृष्टिपटल पर आ पहुंचे। इस तथ्य को वैष्णव जन भी इसी रूप में स्वीकार करते हुए कहते हैं कि आदिपुरुष गोविन्द भी स्मर या काम के रूप को धारण करके अपनी निरन्तर चल रही आनन्दमयी रसक्रीडा से अनन्त भुवनों की सृष्टि करता है।[15] इसी काम-पुरुष या कामपुरुषेश्वरी को अपनी चेतना का माध्यम बना कर शैवों और शाक्तों ने अपने सौन्दर्य या रसतत्त्व की कल्पना को दर्शन का रूप दिया। उन्होंने कामकला-विलास आदि ग्रन्थों में कामकला को एक स्वतंत्र दृष्टि के रूप में विकसित करने का स्तुत्य प्रयास किया है। इस कामकला के ही त्रिविध विकास को लेकर नाद-बिन्दु-बीज के त्रितय-सिद्धांत को ही इस कामसूत्र के अनन्त प्रसार के मूल में निहित किया।

शारदातिलक में व्याख्यात सृष्टि-दर्शन में यह बात आधारभूत है कि एक ही शिव सगुण और निर्गुण भाव में रहते हैं। उनका सगुण भाव प्रकृति सहित या गुण सहित है।[16] इस गुण को कामशक्ति या सौन्दर्यशक्ति कहा जा सकता है। इस शक्ति के सहित सगुण शिव का ही औपचारिक रूप से जब शक्ति के साथ साहित्य या समवेतता होती है तो नाद तत्त्व आयताकार हो उठता है अथवा प्रवाहित हो उठता है। यह नाद कामेश्वर और कामेश्वरी के संवलित रूप का सार है। इसी नाद से शब्दब्रह्म का अनन्त विस्तार हुआ है। संपूर्ण नाम-सृष्टि या शब्दात्मिका सृष्टि में जो जो भी ध्वनि, वर्ण, पद, वाक्य आदि कविहृदयगम्य सौन्दर्य है उसका उत्स यह नाद ही है। सम्भवतः यही नाद शिवशक्ति का वह वातालाप है जिस से संपूर्ण अष्टादश विद्याओं का उद्‌गम हुआ है।[17] ध्वनि-सौन्दर्य और शब्द-सौन्दर्य के मर्म को छूने के लिए सम्भवतः पाणिनि आदि आचार्य इसीलिए नटेश्वर शिव के पास से ही आदि उपदेश ग्रहण करने जाते रहे हैं। प्रसिद्ध है कि पाणिनि को चौदह सूत्रों की उपलब्धि नटेश्वर शिव से ही हुई है। यही उपर्युक्त नादतत्त्व जब अपने ही तरह के आकाशधर्मी प्रवाह को छोड़कर कुछ घनीभूत होने लगता है तो बिन्दु सृष्टि का आविर्भाव हो जाता है।[18] यह बिन्दु रूप-सृष्टि का सम्पूर्ण आधार है। धनीभूत बिन्दु से ही रूप, रस, गन्ध और स्पर्श के मूर्त विषयों का उदय होता है जो नादात्मिका शब्द-सृष्टि के साथ संवलित होकर समस्त काव्य

और कलाओं के शब्द-बोध और अर्थ-बोध का एक साथ प्रकाशन करने लगता है। शब्द-सौन्दर्य और अर्थ-सौन्दर्य दोनों के अभेदभाव या साहित्य अथवा "वागर्थाविव संपृक्तौ"[19] की शब्दार्थ-संपृक्ति का यही रहस्य है।

उपर्युक्त नाद और बिन्दु का सम्बंध शब्द और अर्थ के सम्बंध को स्पष्ट करता है। शाक्तों का कहना है कि सम्पूर्ण शब्द व्यापार की स्वामिनी वाग्देवी ही नाद और शब्द के साम्राज्य को धारण करती है – "शब्दजातमशेषं तु धत्ते शर्वस्य वल्लभा"[20] दूसरी और सम्पूर्ण अर्थ सृष्टि के स्वामी शिव ही मस्तक पर उस शब्दरूपा वाक् को चन्द्रकला के रूप में धारण करते हैं – "अर्थस्वरूपमखिलं धत्ते मुग्धेन्दुशेखरः"[21] इस प्रकार आगमशास्त्र में यह सिद्ध है कि कोई भी शब्द अपने अर्थ के प्रतिपादन-कार्य से सदैव जुड़ा हुआ है।[22] शब्दार्थ के इस सहज सम्बंध का स्फुरण कविप्रतिभा का मूलाधार है। इसी से शब्दगत सौन्दर्य का स्वामी कवि और नादगत सौन्दर्य का स्वामी संगीतकार श्रोत्रगत उन समस्त संवेदनाओं को आत्मसात् करने में लगे रहते हैं जो ब्रह्मानन्द रस की ओर अग्रसर होती रहती है।[23]

यह निश्चित बात है कि सौन्दर्य का सम्बन्ध हमारी पंचमुखी रूप, रस, गंध, स्पर्श, शब्द कि संवेदनाओं पर ही आधारित है। यह पांचों ही कामकला का पंचात्मक विकास है। लेकिन चितिशक्ति की यह पांचों धाराएं मन के माध्यम से छूटती हैं। इसलिए काम से अनुप्राणित मन को भगवती के हाथ में रसमय पौण्ड्र या इक्षु-धनु के रूप में पकड़ा कर अभिव्यक्त किया।[24] और फिर पंचतन्मात्राओं को पांच पुष्पबाणों के प्रतीक रूप से प्रकट किया है।[25] इस प्रकार प्रतीक-प्रधान वर्णन शैली स्वयम् में शैवों और शाक्तों के सूक्ष्मातिसूक्ष्म सौन्दर्य-बोध की परिचायक है। वस्तुतः अनादि कामतत्त्व स्वयम् ही अपनी अभिव्यक्ति के लिए विश्व-सृष्टि के रूप में नाना रूप प्रतीकों, गन्ध-प्रतीकों, रस-प्रतीकों और स्पर्श-प्रतीकों का सृजन करता है। तभी तो पूजा-क्रम में उपासक लोग ऐसे सौन्दर्य-चक्र की अनिन्द्य एवम् अकलुष रचना करते हैं जिसकी रेखाओं और बिन्दुओं की अर्चना में पृथिव्यात्मक गन्ध, आकाशात्मक कुसुम, वाय्वात्मक धूप और रसात्मक नैवेद्य का मानसिक पूजा का अन्तर्यांग में उपयोग किया जाता है। इन्हीं पंचेन्द्रिय-संवेदनाओं और पंचप्राणात्मक हवियों से शिव और शक्ति के सौन्दर्य की उपासना की जाती है। साधकों द्वारा उपासना में कामेश्वर और कामेश्वरी के जलाभिषेक, पुष्प-पूजाओं आदि के उपचारों के समर्पण के साथ नाना रंगों, नादों, तालों और लयों का तालमेल सम्पूर्ण-सृष्टि की समन्वय-साधना का ऐसा दर्शन बन जाता है जिसमें भावना, ज्ञान, और क्रिया का सामरस्य साफ दिखाई देने लगता है। सम्पूर्ण सृष्टि मंगलमय हो उठती है। जन्म और मरण भी सुन्दर लगने लगते हैं। सामान्य प्राणियों के लिए दुख में डूबे हुए संसार में भी शैव गाने लगते हैं –

जन्मानि सन्तु मम देव शतधिकानि।
माया न मे विरातु चित्तममोघ हेतुः।।[26]
अथवा
यद्यत्कर्म करोमि तत्तदखिलं शंभो तवाराधनम्।।[27]

यहां एक बात बहुत ही महत्वपूर्ण हो सकती है कि त्रिक-दर्शन के आचार्यों ने शिव का सम्बंध केवल काव्य, नाट्य, नृत्य, वाद्य, संगीत तक ही परिसीमित नहीं रखा बल्कि उसे चित्रकार और शिल्पी के रूप में भी देखा है और जगत् को शिव द्वारा उरेहे हुए चित्र के रूप में देखा है।[28] इस प्रकार कहा जा सकता है कि शैवों और शाक्तों के जीवन के प्रति साकारात्मक रुख ने ही नर्तकियों के चरणों में, नर्तकों के देहों में बाहर तो घुंघरुओं की झणत्कार भर दी और भीतर हृदयों में स्पन्दशक्ति के आन्दोलन भर दिए। कवियों को अमृता-वाक् में मूर्तिकारों की टंकण-यंत्रिकाओं में, जीवन के कोमल प्राण तथा चित्रकारों की कूंचियों में रंग-विधान की अद्भुत शैलियां देकर समस्त कला-संसार को असारता के गर्त में से निकाल कर सार में लाकर खड़ा कर दिया। उसमें आकर सभी "आज्ञान, संज्ञान, विज्ञान, प्रज्ञान," सत्ता के यथार्थ से जुड़ गए, और मिथ्या होने के भ्रम से बच गए।[29] अन्यथा निर्वाण की, मोक्ष की, कैवल्य की शून्यवादी, अध्यासवादी, विच्छेदवादी अवधारणाओं ने कला और विज्ञान के जगत् को अनस्तित्त्व में समेट देने में कसर तो नहीं छोड़ी थी।

शैवों की सौन्दर्य-चेतना के दो आधार हैं जिनमें से प्रथम आधार है – स्वातन्त्र्य, जिसका अर्थ है कि तत्त्व के "स्व-भाव" में होने की स्थिति। शैवों ने जहां जहां भी स्वातन्त्र्य पद का प्रयोग किया है वहां यही अर्थ लिया है कि परम प्रकाश रूप शिव जब अपनी पूर्णता के प्रति जागरूक हो उठते हैं तो उनमें "पूर्णाहंता" का उदय होता है। यह पूर्णाहता शिव की या तत्त्व की बहिर्मुखी स्थिति न होकर अपने स्वात्मभाव पर स्थित होना है। इसी पूर्णाहता के कारण यह सारा विश्व शिव के अपने स्वभाव में ही स्थित है।[30] अतः यहां पर प्रकाशरूप शिव की आत्मविश्रांति का अर्थ आत्मस्थ होना या स्वस्थ होना ही कहा जा सकता है। जिस प्रकार इस आत्म विश्रांति या स्वस्थता में कामेश्वर शिव अपने संकल्प के स्वातन्त्र्य से सुन्दर हो उठते हैं उसी प्रकार सृष्टि का प्रत्येक कण भी अपने स्वातन्त्र्य अथवा स्वास्थ्य के कारण ही सुन्दर है। अतः सृष्टि में जहां जहां भी प्रकाश रूप शिव की अथवा संवित्रूपा शक्ति की अभिव्यक्ति है, वह परानपेक्षी होने के कारण ही सुन्दर और मधुर है। अभिनवगुप्त कहते हैं कि इस स्वातन्त्र्य के प्रकाश से ही शिव-तत्त्व सृष्टि में पंचमुखी हो कर नाना रूपों में प्रविभक्त हो जाता है।[31] इसलिए शैवी प्रतिभा के मंच पर खड़े हुए शिव-योगी की दृष्टि जहां जहां जाती है वहां वहां उसे इस स्वातन्त्र्य-सृष्टि में सौन्दर्य का स्फुरण दृष्टिगत होने लगता है। उपर्युक्त शिवतत्त्व का पांच रूपों में जो प्रविभाग है वह सृष्टि में नित्य-नवोदय के साथ

होने वाले नानात्व का ही उपलक्षण है। अतः यह नानात्व भी उस परमशिव की विश्वोत्तीर्णता, विश्वात्मकता, परमानन्दमयता और प्रकाशैकघनता के साथ समवेत रह कर अभेद रूप से ही स्फुरित होने के[32] कारण अखण्ड सौन्दर्य का प्रतीक बन जाता है। अतः शिव-दृष्टि के अनुसार सौन्दर्य की व्याख्या करते समय यह बात ध्यान में रखी जानी आवश्यक है कि सौन्दर्य का सम्बंध मूलतः स्वाश्रितता, स्वसंवेद्यता, स्वतः-प्रकाशता के साथ ही जुड़ा हुआ है। प्रकाशरूप शिव का जो विमर्श है वह भी शिव की सिसृक्षामात्र होने से अपने स्व पर ही अवलम्बित है। इस लिए शिव की सिसृक्षा भी अपने स्व का आविर्भाव मात्र ही है। अतः विमर्श की व्याख्या करते हुए भी इसी बात पर बल दिया जाता है कि यद्यपि विमर्श का स्वभाव विश्वाकार या विश्वप्रकाश एवम् विश्वसंहार रूप में प्रस्फुटित होता है, तथापि उसमें अहंता का एक अकृत्रिम स्फुरण तो सदा ही विद्यमान रहता है। इसी प्रकार जैसे शिव अपने स्वातन्त्र्य के कारण कामेश्वर हैं वैसे ही शक्ति भी अपने अकृत्रिम स्फुरत्ता, स्पन्द, कर्तृत्व, एवम् चैतन्य के कारण कामेश्वरी है।[33] इस कामेश्वर-कामेश्वरी के ही अभिन्न युग्मभाव से उदय होने वाली समस्त इच्छाएं, समस्त ज्ञान एवम् क्रियाएं अपने सर्वतोमुखी स्वातन्त्र्य के कारण सभी कालों में सुरुचि एवम् सौन्दर्य का सर्जन करती हुई सृष्टि में क्रियाशील रहती है। क्योंकि यह समस्त विश्व इच्छा और ज्ञान-शक्तियों से प्रेरित क्रियाशक्ति का ही स्वरूप है।[34] इसलिए शैवों और शाक्तों की सौन्दर्य चेतना शिव और शक्ति के पूर्ण स्वातन्त्र्य पर अवलंबित है। और यह स्वातन्त्र्य कभी भी खण्डित नहीं होता। अभिनव कहते हैं कि संवित् ही जिनका स्वभाव है ऐसे परमशिव अपने स्वातन्त्र्य से ही रुद्र से लेकर स्थावर सृष्टि पर्यन्त प्रमातृ रूप में और नील, पीत एवम् सुख दुखादि प्रमेयों के रूप में, भिन्न न होते हुए भी भिन्न से दिखाई देते हुए, किन्तु अपनी शिवता के संवित्स्वरूप को आच्छादित न करते हुए शिव के स्वातन्त्र्य की महिमा से प्रकाशित होते रहते हैं।[35]

शैवों की सौन्दर्य-चेतना का दूसरा आधार हम आभास की अवधारणा को मान सकते हैं। क्योंकि आभास शब्द त्रिक-दर्शन में इतनी बहुलता से प्रयुक्त हुआ है कि उसकी किसी भी स्तर पर उपेक्षा नहीं की जा सकती। जैसे अन्यान्य दर्शनों में आरम्भवाद, परिणामवाद, विवर्तवाद या विज्ञानवाद प्रत्येक दर्शन की निगूढ़ता खोलने में कुंचिका का काम करते हैं वैसा ही शैवाद्वैत और शाक्ताद्वैत में आभासवाद का स्थान है।

आभास शब्द की व्याख्या में व्युत्पत्ति का दो तरह से प्रयोग किया जा सकता है। "आ" उपसर्ग को "समन्तात्" या "सम्पूर्णता" के अर्थ में भी लिया जा सकता है और "आ" उपसर्ग को "ईषत्" अथवा "स्वल्प" या "सीमित" के रूप में भी लिया जा सकता है। शैव दर्शन में "ईषत्" अथवा "स्वल्प" का अर्थ, प्रसार का अवरोध करने वाली "संकोच शक्ति" ही किया जाता है। सौन्दर्य के सन्दर्भ में हमें प्रकाश का संकुचित रूप में, मर्यादित

रूप में, प्रस्फुटित होना अधिक मानवीय चेतना के निकट लगता है। क्योंकि अनन्त सौन्दर्य का आस्वादन करने के लिए हमें एक निश्चित क्रम की आवश्यकता होती है। और यह क्रम ग्रहीता, ग्रहण और ग्राह्य के भेद के रूप में प्रकट होता है। यद्यपि इस त्रिपुटी के मूल में एक ही अभेदरूप तत्त्व की भासनसारता रहती है तथापि हमारे व्यवहार-जगत् के अनुभव के रूप में उस अभिन्नता में से भी नित्य उदय होने वाली भिन्नता उस अनुभव की पूर्ति में सहायक होती है। इसलिए प्रकाश-पुरुष होने पर भी शिव अपने विमर्श-रूप दर्पण में नाना कलाओं से युक्त होकर नाना रूपों में प्रतिबिम्बित होने लगते हैं। इसलिए शैव-दर्शन-जगत् में भेदमय प्रतिबिम्बता के मूल में अवभासन को ही सार माना है। इस यथार्थ को प्रकट करने के लिये शैवों ने स्थान स्थान पर ललित कलाओं से उपमाओं या उत्प्रेक्षाओं को उद्धृत करके अपने सौन्दर्य-बोध का पदे पदे परिचय दिया है। कभी वे कहते हैं कि परमशिव एक चित्रकार की तरह अपने शूल को एक कूंची की तरह प्रयोग करते हैं और कभी वे इस जगत् को दर्पण में प्रतिबिम्बित होने वाले चित्र के रूप में वर्णन करते हैं। इसलिए त्रिक-शासन में परम-प्रकाश का विमर्श में से होकर आभासित होना शैवों के आनन्दवाद और सौन्दर्यवाद की पृष्ठभूमि बनता है। इसीलिए वे शिव की पूर्णता से परिचित होने पर भी जगत् के रूप में अभिव्यक्त हो रहे नाना रूपों, रसों, गन्धों, स्पर्शों और शब्दों को तुच्छ नहीं मानते अपितु उसे आनन्द या सौन्दर्य का स्फुरण मानते हैं। सौन्दर्य का यह स्फुरण उन्हें सत्ता के दोनों स्तरों पर ग्राह्य हैं। सत्ता का एक "अस्ति" रूप है जो जगत् की मूल सत्ता से जुड़ा हुआ है। दूसरा उसी सत्ता का "भवति" रूप है जिसमें एकत्व नानात्व के छोटे छोटे बिन्दुओं में स्पन्दित होकर तरह तरह की संवेदनाओं को जागृत करता हुआ चमत्कार बन जाता है।

यहां हम आभास के सन्दर्भ में ही संस्कृत-काव्यशास्त्र में प्रयुक्त रस में चमत्कार शब्द की अवधारणा को स्पष्ट करना भी औचित्य पूर्ण मानते हैं। इस चमत्कार को काव्य शास्त्रियों ने कहीं प्रतिभा का उन्मेष माना है, कहीं लोकोत्तरता, कहीं चिन्मयता और कहीं पर अद्‌भुतता का उद्रेक[36] जो वास्तव में शैव-दर्शन का संस्कृत साहित्य को अमूल्य योगदान कहा जा सकता है। यह चमत्कार छोटी-छोटी कलाओं में, अंशों में, कालक्षणों में अखण्डता का उद्‌भासन कराता रहता है। प्रश्न उठता है कि संस्कृत काव्य-शास्त्र में इस चमत्कार की अवधारणा का मूल क्या रहा है ? विश्लेषण करने पर यह बात स्पष्ट हो उठती है कि प्राचीन काल में ही जब इस देश में दार्शनिक प्रवृत्तियों का विकास हो रहा था तो सांख्य-दर्शन में प्रकृति-पुरुष के सन्दर्भ को लेकर भोग और उपवर्ग की मान्यताओं की स्थापना कर दी गई थी।[37] उसमें सांख्य के सत्व-प्रधान-बुद्धितत्त्व में पुरुष-तत्त्व के संयोग को भोग मान लिया गया था। सांख्य में भोग की प्रक्रिया का विश्लेषण करने से पता चलता है कि अचित् प्रकृति के अत्यन्त ही कोमल मर्म बुद्धि-सत्व में चेतन-पुरुष तत्त्व का जब प्रतिबिम्ब

पड़ता है तो प्रकृति चेतन की तरह व्यवहार करती हुई सक्रिय हो उठती है। इस सक्रियता की अवस्था में वह अपने में से ही उत्पन्न पदार्थों को पुरुष के सम्मुख उपस्थित करने लगती है।[38] द्रष्टा पुरुष के सम्मुख उन उन विषयों को प्रस्तुत करते समय बुद्धि-सत्व में जो चित् का प्रकाश पड़ता है वही चमत्कार सा हो उठता है। लेकिन सांख्य में यह भोग इसलिए चमत्कार नहीं बन पाया क्योंकि भोग तो अविवेक या प्रकृति की जड़ता था, अन्धता का परिणाम था। वस्तुतः शैवों की शक्तिमयता के साथ उसे जोड़ कर जब देखा तभी भोग या चमत्कार का आनन्द के साथ सामञ्जस्य हो सका।

वास्तव में देखा जाए तो संस्कृत-व्याकरणशास्त्र में "चमु" धातु का अर्थ भोजन या भोग के अर्थ में ही है। सम्भवतः भोग की स्थूलता को अत्यन्त सूक्ष्मता में बदलने के लिए आचमन शब्द का अर्थ तंत्रशास्त्र में जल के थोड़ी मात्रा में ग्रहण करने के अर्थ में ले लिया गया । वस्तुतः स्थूल दृष्टि में जो भोग की अवधारणा चली आ रही थी उसको और अधिक सूक्ष्म करने के लिए चमत्कार शब्द का प्रयोग किया गया है। भोग को यदि "भुज्" धातु से निष्पन्न माने तो व्याकरण शास्त्र की दृष्टि से "चमु" धातु के अर्थ में और "भुज्" धातु के अर्थ में कोई अन्तर नहीं है।[39] केवल "भुज्" धातु के अर्थ के साथ एक और समानान्तर अर्थ जोड़ दिया गया है। वह अर्थ भोग के साथ पालन के अर्थ में उभर कर आया। लेकिन पालन के लिए भोग की क्रिया जब अपेक्षित सिद्ध होती है तो दोनों समानान्तर अर्थ एक ही समन्वित अर्थ को दे सकते हैं। इस विषय में मेरी दृढ़ मान्यता है कि शैवों और शाक्तों ने भोग शब्द का जब अपने पूर्ववर्ती दर्शनों से ग्रहण किया तो उन्होंने उसमें आमूल-चूल परिवर्तन के साथ ग्रहण किया। उनके इस ग्रहण को हम यदि काम और कमनीयता के सन्दर्भ में देखें तो यह धारणा और भी अधिक स्पष्ट हो उठती है।[40] कमनीयता, कांति, प्रकाश, आभास, विमर्श आदि पदों का भरपूर प्रयोग देखने के बाद ऐसा लगता है कि त्रिक-दर्शन के मूल में अग्नि, सूर्य और चन्द्र की कांतियों से पैदा होने वाली विभिन्न प्रकाश की तरंगों ने उनकी सौन्दर्य-चेतना को निर्मित किया है अतः सम्भव है कि उन लोगों ने भोग शब्द के अधिक प्रयोग करने की अपेक्षा "कमु कान्तौ" धातु के ही "ककार" को व्याकरण की "चुत्व" विधि से चमत्कार के अर्थ में प्रयुक्त कर दिया हो। क्योंकि भोजनार्थक "चमु" या "भुज्" धातु तो चमत्कार या भोग शब्द को स्थूल-क्रिया के स्तर पर ही व्याख्यात करती हैं लेकिन "इच्छार्थक कम्" धातु चमत्कार को चरम आनन्द, चरम आह्लाद, चरम प्रकाश या चरम आस्वाद के अर्थ में व्याख्यात करते हैं। इस प्रकार सौन्दर्य की मूलता में जो चमत्कार हैं वह भोग की स्थूलता से उतर इच्छा, काम या सौन्दर्य के अनुभव में भी उतर जाता है। वह केवल क्रियामूलक ही नहीं, रहती अपितु सिद्धों और योगियों के चेहरों पर उठी हुई ज्ञान-मुद्राओं में और "प्रकाशमात्र तनुः"[41] शिव के हल्के गुलाबी इच्छा रूप विमर्शमय रूप में भी प्रकट हो जाता है।

त्रिक-दर्शन में सौन्दर्य का एक तीसरा आयाम भी मुखरित हुआ है। इस आयाम को त्रिक-दर्शन की शाखा स्पन्द-शास्त्र के रूप में भी हम देख सकते हैं। वास्तव में इस दर्शन में स्पन्द की जो परिभाषा की गई है वह स्पन्द चिन्मय चिति-शक्ति का आद्यस्फुरण है। वह स्पन्द-सृष्टि के आद्य बिन्दु में एक ऐसी सूक्ष्म गति, क्रिया या नाद है जो सृष्टि के संपूर्ण पदार्थों के मूल में रहकर उन्हें गतिहीन जड़ता से मुक्त करके जीवन को स्पन्दन प्रदान करता है।[42] सृष्टि के समस्त पदार्थ उस चितिक्रिया के अभाव में शव रूप होकर शिवता से वंचित ही रह जाते यदि स्पन्द के आंदोलनों से संविन्मय शिव आत्माभिव्यक्ति की ओर उन्मुख न होते। अतः शैवों का स्पन्द सिद्धांत विज्ञानवादी बौद्धों के क्षण क्षण परिवर्तनशील उस विज्ञान का निवर्तन करता है जो गतिशील होने पर भी मूलतः क्षणभंगुरता या नित्य वैनाशिकता के सिद्धांत को सामने खड़ा कर देता है। वस्तुतः बौद्धों के निवृत्तिमूलक या उच्छेदमूलक अभावात्मक निर्वाण को, नवनवोन्मेष या प्रतिक्षण नवनवोन्मीलनमूलक शैवों का स्पन्द-सिद्धांत जीवन को अमंगल से हटा कर सरस, चमत्कारमूलक बना देता है। 43 अतः शैवों के अनुसार मांगलिकता सौन्दर्य के ललाट का वह बिन्दु है जिसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती।

– सन्दर्भ –

1. "त्रिक" शब्द की व्युत्पत्ति करते हुए यास्क कहते हैं -- "त्रयस्तीर्णतमा संख्या" इस पर दुर्गाचार्य का कथन है -- "तीर्णा अतिशयेनोत्तरोत्तरं वृद्धिं गता"। निरुक्त : 3.2.10
2. "क्षणे क्षणे यन्नवतामुपैति तदेव रूपं रमणीयतायाः"। शिशुपाल वध, 4-17
3. "किमिव हि मधुराणां मण्डनं नाकृतीनाम्"। अभिज्ञान शाकुन्तल, 1-18
4. "स्त्रियेषु सौभाग्यफला हि चारुता" कुमारसंभवम्, 5-1
5. संवेद्यं तत्त्वजालं परशिवधरणीमूलपारं विचित्रं।
   कर्मानन्तप्रपंचं निरुपममहिमानादिमध्यावसानः।
   ब्रह्मानन्दमृताब्धिः समरसविधुना जृम्भितस्वात्मभासो।
   हेतुत्वेन प्रबोधज्वलन तव महाज्ञानशक्तिं व्यनक्ति।। दुर्वासा "परशंभु महिम्नस्तवः" 4.1.
6. भवेत्सौन्दर्यमंगानां सन्निवेशोयथोचितम् -----। उज्वलनीलमणि, उद्दीपन प्रकरण - 19.
7. चिद्विलास, पृ० 209
8. सौन्दर्यशास्त्र, पृ० 10 हरद्वारी लाल
9. "उज्वल वरदान चेतना का सौन्दर्य जिसे सब कहते हैं" कामायनी, लज्जासर्ग, पृ० 102
10. पृथिव्यापस्तेजः पवनगगने तत्प्रकृतयः
    स्थितास्तन्मात्रास्ता विषयदशकं मानसमिति।
    ततो माया विद्या तदनु च महेशः शिव इति।
    परं तत्त्वातीतं मिलितवपुरिन्दो परकलाः।। गौडपाद श्री सुभगोदयस्तुति-5
11. सौन्दर्य शास्त्र और आधुनिक हिन्दी कविता, पृ० 17
12. शास्त्रेषु प्रक्रियाभेदैरविद्यैवोपवार्णिता। वाक्यपदीय, 2-233

13. ऋग्वेद, 10-नासदीय सूक्त, मन्त्र-2
14. ऋग्वेद, 10 - मंत्र 4.5
15. आनन्दचिन्मय रसात्मतया मनःसु
य: प्राणिनां प्रतिफलन् स्मरतामुपेत्य।
लीलायितेन भुवनानि जयत्यजस्रं,
गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि।। ब्रह्मसंहिता, पृ० 318, श्लोक-46, वसुमती प्रेस, कलकत्ता।
16. निर्गुणः सगुणश्चेति शिवो ज्ञेयः सनातनः।
निर्गुणः प्रकृतेरन्यः सगुणः सकलः स्मृतः।। शारदातिलक, 1-6
17. सौन्दर्यलहरी, श्लोक, 38
18. नाद एव घनीभूतः कचिदभ्येति बिन्दुताम्।" शारदातिलक, पृ० 16
19. वागर्थाविव संपृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये।
जगतः पितरौ वन्दे पार्वतीपरमेश्वरौ।। रघुवंश, 1-1
20. सौन्दर्यलहरी, श्लोक। पर अरुणामोदिनी टीका, पृ० 30
21. वही.
22. स्वार्थप्रतिपादनं हि स्वकार्यं शब्दानाम्। वही० श्लोक 1 पर अरुणामोदिनी टीका में न्यासकार का मत उद्धृत है। पृ० 30
23. यत्र ब्रह्मरसास्वादः स्वयमेवानुभूयते।
वाग्गुम्भे तादृशे तु स्यात्साधनी प्रीतिरुत्तमा।। वही, पृ० 14
24. "मन इक्षुः धनुः। भावनोपनिषत् सूत्र, 22
25. "शब्दादितन्मात्राः पंचपुष्पबाणाः। वही., सूत्र 21
26. स्कन्द पुराण - (ब्राह्मखण्ड, ब्राह्मोत्तर खण्ड); 17-45
27. शिवमानसपूजा, श्लोक 4, पृ0 23 स्तोत्ररत्नावली, गीताप्रेस, गोरखपुर, सं. 2033
28. निरुपादानसंभारम भित्तावेव तन्वते।
जगच्चित्रं नमस्तस्मै कलाश्लाघ्यायशूलिने।। स्तवचिन्तामणि, पद्य-9
29. "इन्द्रियों द्वारा विषयों के जानने को आज्ञान कहते हैं, भिन्न-भिन्न पदार्थों के ज्ञान को नामरूपात्मक भेद से पहचानने को संज्ञान कहते हैं और ध्यानपूर्वक समझकर प्राप्त किए जाने वाले विशेष ज्ञान को विज्ञान कहते हैं। परन्तु ये सब ज्ञान जिस एक निरपेक्ष ज्ञान के भेद हैं उसको प्रज्ञान कहते हैं।" सौन्दर्यलहरी श्लोक 22 पर विष्णुतीर्थकृत हिन्दी टीका, पृ० 159, देवास (म० पु०) संन्यास आश्रम द्वारा प्रकाशित 1958
30. प्रकाशस्यात्मविश्रांतिरहंभावो हि कीर्तितः। तंत्रालोक, 1.55 पर टीका
31. स्वातन्त्र्याभासितभिदा पंचधा प्रविभज्यते। वहीं०
32. श्रीमत्परमशिवस्य पुनः विश्वोत्तीर्णविश्वात्मकपरमानन्दमयप्रकाशैकघनस्य शिवादि धरण्यन्तम् अखिलं अभेदनैव स्फुरति।। प्रत्यभिज्ञाहृदय, सू० 2 पर व्याख्या पृ० 9
33. तस्यैवेषा परादेवी स्वभावामर्शनोत्सुका।
पूर्णत्वं सर्वभावानां यस्या नाल्पं न वाधिकम्। कामकलाविलास, श्लोक 1 पर चिद्वल्ली
34. "क्रियाशक्तेरेव अयं सर्वो विस्फारः।" ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी, भाग-2, पृ० 42

35. तस्मादनपह्नवनीयः प्रकाशविमर्शात्मा संवित्स्वभावः परमशिवो भगवान् स्वातन्त्र्यादेव रुद्रादिस्थावरान्तप्रमातृरूपतया नीलसुखादि प्रमेयरूपतया च अनतिरिक्तयापि अतिरिक्तयेव स्वरूपानाच्छादिकया संवित्स्वरूपनान्तरीयक स्वान्त्र्यमहिम्ना प्रकाशते इत्ययं स्वातन्त्र्यवादः प्रोन्मीलितः। वहीं, पृ० 8-9

36. साहित्यदर्पण : 3-2-3 पर व्याख्या।

37. "बुद्धिबोधं हि यदात्मनि अविशिष्टतया अंहकारो व्यवहरति स एव अयं भोगः। ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृतिविमर्शिनी, 1-2-8 पृ० 155

38. क) बुद्धिरूपं यत्सत्वं तस्य यतो नैर्मल्यं रजोऽपसारणसहिष्णुता तदीयतमोभागस्य न तु नीलादाविव अनपसारणीयत्वम्, ततो हेतोरूभयोमपि आत्मनो विषयस्य च सम्बन्धिनीं रूपच्छायां संवेदननीलमयता मनुकरोति। तदाकारधारितया भासते नीलरक्तपटमध्यगतसितवस्त्रवत्, ततो हेतोस्तत्प्रतिबिम्ब आत्मविषयप्रतिबिम्बे यतो युज्यते, ततो विषयबोधस्वभावो भोगः सिध्यति। वही (1-2-8) पृ० 153

38. ख) सर्वं प्रत्युपभोगं यस्मात्पुरुषस्य साधयति बुद्धिः।
सैव च विशिनष्टि पुनः प्रधानपुरूषान्तरं सूक्ष्मम्।। सांख्यकारिका, 37

39. क) चमु छमु जमु झमु अदने, सिद्धांतकौमुदी (भ्वादि गण) पृ० 95
ख) भुज पालनाभ्यवहारयोः वही, (रुधादि गण) पृ० 269

40. क) "कमु कान्तौ, कान्तिरिच्छा," वही (भ्वादि गण) पृ० 88
ख) कन् दीप्तिगतिकान्तिषु (वही०) (भ्वादि गण) पृ० 94

41. कामकला - विलास, पद्य-1

42. अतिक्रुद्धः प्रहृष्ये वा किं करोमीति वा मृशन्।
धावन् वा यत्पदं गच्छेत्तत्र स्पन्दः प्रतिष्ठितः।। स्पन्दकारिका, 1-6

43. दशादिक्कालाद्यैरकलिताचिदालोकवपुषः
सदा तादृक्स्वात्मानुभवितृतया विस्फुरति यः।
निजो धर्मः शम्भोरनुपमचमत्कारसरसम्
परं शाक्तं तत्त्वं जगति जयति स्पन्द इति तत्।। स्पन्दकारिका, 1-1

नवम उन्मेष

शैव और शाक्त दृष्टियों की अवैदिकेतरता

प्रस्तुत प्रकरण में मैने अवैदिकेतरता शब्द का प्रयोग थोड़ा साभिप्राय किया है। क्योंकि जब सूक्ष्म चेतना की बात हो रही है तो सीधे यह कहना कि उस चेतना का अमुक भाग केवल वैदिक है। या निषेध-पद्धति से उसे यह कहना कि वह पूर्ण अवैदिक है, थोड़ा धर्मसकंट का काम है जैसे कि कोई संतान पुरुष हो या स्त्री, उसकी संघटना या सरंचना को देखते हुए उसे माता या पिता में से केवल किसी एक ही रचना नहीं कहा जा सकता। क्योंकि सृष्टि तो सारी ही उभयनिष्ठ है। अतः प्रस्तुत प्रयोग यह कहने के लिए है कि शैव-शैक्त दृष्टियां न तो केवल वैदिकता से भिन्न कुछ नहीं हैं ऐसे कहीं जा सकती हैं और न ही ऐसे सीधे कहा जा सकता है कि पूर्णतः अवैदिक ही है। यह चेतना तो वास्तव में शास्त्र और लोक का आपस में बिम्ब-प्रतिबिम्ब-भाव है।

बहुत से प्राच्य-विद्याओं के अध्ययन में रत देशी और विदेशी विद्वानों ने कुछ नवीन विज्ञान-विद्याओं से प्रेरित होकर कुछ ऐसी युक्तियों से सिद्ध कर दिया है कि भारत में समस्त ज्ञान-चेतना का विकास दो परस्पर विरोधी विचार-धाराओं के पहले आपसी टकराव, फिर समन्वित होते रहने की प्रक्रिया का परिणाम है। आर्यों और आर्येतरों के पृथक- पृथक मानसों की कल्पना करने से उन्होंने जो निष्कर्ष निकाले उससे सिद्ध कर दिया कि भारतीय चेतना का अपना मूलरूप कुछ भी नहीं है। बाहर से आए आक्रान्ता आर्यों की कुछ कुछ कर्मकाण्डीय आचार-विचार-पद्धतियां इस भूखण्ड के मूल निवासियों के जीवन में आक्रान्ता या शास्ता के जीवन-धर्म के रूप में पहले आरोपित हुई फिर उस में घुल मिल गईं। लेकिन इस मिश्रण में आर्यों के पक्ष की जो बातें थी वे मूलतः यज्ञप्रथा, संस्कृत-भाषा, देववाद, आत्मा और ब्रह्म का सिद्धांत-ये चार थी। और अनार्य या वैदिकेतर पक्ष की जगन्मिथ्यात्ववाद, घोर आत्मत्याग, पूजा-अर्चा, योगप्रणाली और नास्तिकता ये पांच प्रवृत्तियों एक दूसरे में समा गईं।[1] इन पांच और चार के संघट्ट से भारतीय संस्कृति का नवयोन्यात्मक चक्र बना हुआ है। यह चक्र वैदिक और आगमिक धाराओं का मिलन है।

आपाततः यह बात कुछ सीमा तक बुद्धिसंगत लगने पर भी हमें लगता है कि इस प्रकार का विश्लेषण नितान्त सम्पूर्णतः बहिर्मुखी विद्याओं के अध्ययन के आधार पर खड़ा किया गया है जो मानव मस्तिष्क की समन्विति को तोड़ता है और पारस्परिक सहिष्णुता आदि की ऐसी ऊपरी या सतही अवधारणाओं को खड़ा करने में सहायता भी देता है जो किसी राष्ट्रकुल या तंत्र को एक सूत्र में अधिक देर तक बंधी नहीं रहने देतीं। आर्ष-दृष्टि ने इस राष्ट्र या कुल की जो रचना की थी उस का निर्धारण भारतीय वाङ्मय में प्राप्त

अन्तःसाक्ष्यों और इस राष्ट्र के लोक-विश्वासों के तर्कपूर्वक किए गए अनुशीलन से ही हो सकता है। और तभी भारतीय प्राच्यविद्याओं के अनुशीलन में सौ साल से भी ऊपर काल से अटकी हुई पाश्चात्यों की भारतीय संस्कृति-सम्बंधी अवधारणाएं या तो अग्रसर होकर रूपान्तरित होंगी या टूटेंगी, और तभी यथार्थ का स्वरूप भारतीय लोक-जीवन में अपने-पन के साथ जुड़ कर अभ्युदय और निश्रेयस् की सही कल्पना का साक्षात्कार करेगा।

आगम और तंत्रशास्त्र की अवैदिकता को तब तक प्रमाणित नहीं किया जा सकता जब तक हम और अधिक श्रुतिदर्शन की आपातिक समानताओं के अतिरिक्त उनकी मूल चेतना में समानान्तरता को नहीं जांच लेते। इस दृष्टि से शैव दर्शन में भी केवल त्रिक-दर्शन ही यहां हमारा आलोच्य विषय है। और उसके साथ पूर्ण संगति रखने वाले उसी के अंगभूत, कुल, क्रम और स्पन्द दर्शन भी हमारे अध्ययन की परिधि में आ जाते हैं। इन सभी दृष्टियों की यदि साधना-प्रक्रिया एवम् तत्त्व ज्ञान-प्रक्रिया को वेद और ब्राह्मण ग्रन्थों की मूल चेतना के साथ मिला कर देखें तो स्पष्ट हो जाएगा कि वेद वेदांग के ही कुछ विद्वान् अपने अपने अध्ययन को सर्वोच्च मान कर उसी में रत रहने लगे थे। अथवा अपने अपने आम्नाय-क्रम को ही सर्वोत्कृष्ट कह कर परम्परा की धारा से विछिन्न होते जा रहे थे, और ऐतिहासिक अन्विति की धारा से अलग थलग पड़ते जा रहे थे। तंत्र और आगम की दृष्टि उन्हीं को लोकसम्बद्ध और उपयोगी रखने के लिए सचेष्ट रही। जो तत्त्वज्ञान धीरे धीरे सामान्य जन से परे हट कर ऊपरी स्तर के कुछ सामाजिक वर्गों की कारा में बंद होता जा रहा था उसी को पुनः पुनः मुक्त कराने का श्रेय तंत्र, आगम और पुराण को जाता है। वैदिक जन जहां द्विजाति लोगों के बीच ही ज्ञान की समस्त सम्भावनाओं को रोप रहे थे वहां उन्हीं ऋषियों से सम्बद्ध मुनि, तापस, सिद्ध और योगी जन, द्विजाति से बाहर के जनसमुदाय को भी भारतीय परम्परा में समेट कर उसे उसी प्रकार के चरम ज्ञान से जोड़ते रहे ताकि यह वेद-विद्याकुल स्वस्थता के साथ अग्रसरता की ओर बढ़ता रहे। अतः इस सन्दर्भ में वेदों की गायत्री उपासना, सूर्योपासना या अग्निउपासना को ही हम मुख्य रूप में त्रिक-दर्शन के सन्दर्भ में ग्रहण करेंगे। लेकिन वहां एक परिवर्तन परिलक्षित होता है कि वैदिकों में जो चन्द्र की उपासना कहीं प्रमुख रूप से दृष्टिगत नहीं होती उसे आगमाचार्यों ने अपने दर्शन और उपासना में महत्वपूर्ण स्थान दिया। और "त्रिखण्डं मातृकाचक्रम्"[2] में विभाजन की दृष्टि से प्रथम खण्ड में भूलोक की पार्थिव अग्नि को, द्वितीय खण्ड में सूर्याग्नि, तृतीय खण्ड में चान्द्रमसी ज्योति को स्थान दिया यह चान्द्र ज्योति यहां शैवों में सोमकला के रूप में विश्वरूप शिव के शिरः-शिखर पर सुशोभित है। ऐसा लगता है कि जैसे वैदिकों की "अग्निषोमात्मकं जगत्"[3] वाली बात को शैवों ने ठीक से ग्रहण कर उसे अपने ढंग से सुव्यवस्थित कर दर्शनोपयोगी बना लिया। यज्ञ में सोमक्षरण की प्रतीकधारा ही इस बात को प्रकट कर सकती थी कि सोम से सिंचित होकर या सोम पीकर जब अग्नि तृप्ति और सुख से मण्डित होकर सौम्यभाव धारण करेगी,

वह क्षण-मानव-चेतना के सौम्य खण्ड में प्रवेश का होगा। जहां पार्थिव और आन्तरिक्षीय वह्नियां अपने अपने स्वभाव का उत्कट धूम, ताप-ज्वलन छोड़ कर शीतल एवम् नवजीवनाधायिनी शीतज्योति में रूपान्तरित होकर सर्वत्र अमृत-संचार करने लगती है। लेकिन ब्रह्माण्डीय स्तर की अपेक्षा पिण्ड के स्तर पर यह साक्षात्कार अधिक सूक्ष्म और प्रक्रिया-साध्य है। उस प्रक्रिया का आगमन "आना" या प्राप्ति ही आगम-शास्त्र के "आगमत्व" और "आप्ति" का मूल है। इसलिए शैवों और शाक्तों की कुण्डलिनी-जागरण से होने वाली अमृत-क्षरण की समस्त प्रणाली ही वैदिकों के सौमाभिषव की स्थूल उपासना को पिण्ड-चेतना के सूक्ष्म स्तरों पर ले जा कर नव जीवन के साक्षात्कार का प्रयास है। क्योंकि वैसे भी वैदिक वाङ्मय में जो मानव का वर्चस्व, ओज, बल, वीर्य, बुद्धि और मेधा-प्रज्ञा सम्बंधी उद्दाम उत्साह दिखाई देता है वह जिजीविषा के रूप में भारत की किसी भी अन्य चिन्तन-प्रणाली में नहीं उत्तर सका। क्योंकि उन सभी पर वैचारिकता, उदासीनता, ताटस्थ्य, माध्यस्थ्यता का बोझ इतना अधिक बढ़ा कि वे उस वैदिक मानवों की जिजीविषा को अपने अपने दर्शन का सिद्ध लक्ष्य नहीं बना सके। आत्मा की खोज ने ही उन्हें जिजीविषा के प्रति तटस्थ सा बना दिया।

किन्तु शैवों ने सर्वत्र अपनी तंत्रोपासना में वैदिकों की वाक्सम्बंधी कल्पनाओं को पूरा महत्त्व दिया। और सोमकला का वाक् से सम्बंध रखते हुए अपनी उपासना में प्रयुक्त पंचदशाक्षरी आदि मंत्रविद्याओं में सर्वप्रथम स्थान वाग्भव-कूट को या वाक्-कूट को ही दिया। वैदिकों ने भी तो आत्मा को सर्वप्रथम वाङ्मय ही माना था – "अयम् आत्मा वाङ्मयः मनोमयः प्राणमयः।[4] इतना ही नहीं, वैदिक वाक्सम्बंधी अवधारणा के अतिरिक्त गायत्री-उपासना को शिव-दर्शन में पर्याप्त महत्त्व मिला है। काश्मीर के भट्टनारायणं उन्मुक्त रूप से गायत्री को शिव से जोड़ते हैं।[5] और वेद को शिव की आज्ञा रूप वाक् मानते हैं।[6] इस पर टीका करते हुए क्षेमराज लिखते हैं :- "यस्य महेशितुः बोधादित्यस्यसम्बन्धि तेजो वरेण्यं ज्योतिः वाक्शक्ति रूपया गायत्र्या वेदमात्रा धियां सर्वप्रमातृमतीनां चोदकं तत्कर्तव्याध्यवसाय-ग्राहकं गीयते।"[7]

शाक्त दर्शन के सुविख्यात आचार्य भास्करराय भी शाक्तों के पंचदशी मंत्र के 15 अर्थों के व्याख्यान के अवसर पर सर्वप्रथम गायत्री के पूर्ण अर्थ का व्याख्यान - "अथातः पूर्णगायत्र्याः प्रतिपाद्योऽर्थ आदिमः"[8] कह कर फिर आगे अन्य अर्थों में प्रवेश की अनुमति देते हैं। इतना ही नहीं, वे तो समस्त आगम और तंत्र-शास्त्र को ही वैदिक मानते हैं। और सौन्दर्य-लहरी के प्रसिद्ध व्याख्याकार लक्ष्मीधर की इस टिप्पणी कि "चौंसठ तंत्र जो हैं सो अवैदिक हैं" पर तीक्ष्ण कटाक्ष करके कहते हैं – "एतानि महामायादि विशुद्धेश्वरान्तानि चतुःषष्टिस्तन्त्राणि शास्त्राणि वेदरूपाणि। तंत्राणा ... मुपनिषच्छेषत्वात्।[9]

शैवों की प्रकाश-विमर्श उपासना और गायत्री-विज्ञान –

भारतीय विद्या विशेषज्ञों को यह पता ही है कि गायत्री एक ऐसा शब्द है जो वेद-विद्या और ब्रह्म विद्या में बहुत ही प्रामाणिक माना जाता है। ऋग्वेदकाल में ही गायत्री का माहात्म्य प्रकट हो गया था। और ऋषि लोग यज्ञ में प्रधानभाव से "शक्वरियों या ऋचाओं में गायत्र का ही गान करते थे।[10] यह "गायत्र" क्या कोई साम-सम्बंधी विशिष्ट अवधारणा थी जो सम्पूर्ण वैदिक मन पर छाई रही ? श्री कृष्ण ने गीता में "वेदानां सामवेदोऽस्मि"[11] और साथ ही "गायत्री छन्दसामहम्"[12] कह कर अर्जुन को बोधित किया था कि वेदों में नादप्रधान सामवेद मैं ही हूं। क्योंकि नाद की स्थिति शब्द-ब्रह्म से ही ऊपर है। छन्दों में गायत्री का भी क्या गायन से ही सम्बंध रहा यह विचारणीय है। क्या गायत्री छन्दोबद्ध या संख्याबद्ध वर्ण-विन्यास से ऊपर कोई संगीतात्मक नादात्मकता थी जो मंत्र में एक साथ ही पद से पदार्थ और पदार्थ से तत्त्वातीत चतुर्थपाद में नादातीत चिच्छक्ति के साथ मिलाने की विद्या थी। "गायन्तं त्रायते" वाले अधिवेदता का प्रथम आविर्भाव प्रातः प्रथम सूर्योदय के साथ ऋग्वेदीय भावना को लेकर है। दूसरा आविर्भाव मध्याह्न सूर्य के साथ और तीसरा सायंकालीन सूर्य के साथ। लेकिन यह त्रिपदा, गायत्री है। इस का अलक्ष्यपाद या तुरीय पद तो वह है जो रात्री के अंधेरों में भी कहीं व्यक्त कहीं अव्यक्त रूप में रह जाता है।[13] सम्भवतः आगम शास्त्र में "अर्धमात्रा" शब्द के प्रयोग द्वारा संकेत उसी ओर हो। और फिर गायत्री के ही एक अजपा रूप का उल्लेख करते हुए शैव कहते हैं –"अजपा नाम गायत्री योगिनो मोक्षदायिनी।[14]

इस प्रकार लगता है कि गायत्री का जब ब्रह्म-विद्या के रूप में विकास हुआ तब प्रकाशोपासना का सूर्य के साथ और नादोपासना का मंत्रकाव्य के सूक्ष्मातिसूक्ष्म स्पन्दनों के साथ सम्बंध जुड़ चुका था। काश्मीर के शैव ब्राह्मण गायत्री के इस उज्वलतम रूप से जीवन में जाने अनजाने रूप में जुड़े हुए तो थे ही। क्योंकि हिमालय के जिन शिखरों पर उनका वास था वे शिखर ही भास्वान् सूर्य या काश्यप सूर्य के नित्योदय के प्रथम स्थल थे, जहां चतुर्दिक् प्रकाश फैल कर केवल प्रकाश ही नहीं अपितु सुषमा-सम्पन्न काश्मीर की धरती के निकट आते ही विमर्शमय हो उठता था। अतः काश्मीर शैवशास्त्र ने जिस शिव और शक्ति का साक्षात्कार किया वह अन्तश्चेतना में उतरा हुआ सूर्य का अनिन्द्य, अकलुष वह प्रकाश था जिसमें विभिन्न रंगों में उदित ललिमा का, विमर्श या चित्त की रागात्मकता का अकलुषित भावमय या वृत्तिमय प्रसार था। इसलिए पुण्यानन्दनाथ ने महेश को "प्रकाशमात्र तनुः"[15] कहकर शक्ति को "शिवरूप विमर्श निर्मलादर्शः[16] कहा है अर्थात् उस प्रकाश को निर्मल दर्पण की भांति नाना रंगों की फुहारों में बदल देने वाला विमर्श कहा है। इसलिए निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि शैवों के इस प्रकाश-विमर्श वाली सार्ग

दार्शनिक रचना के मूल में वैदिकी सूर्योपासना के विविध आयाम अथवा गायत्री जो कि सावित्रीरूपा सूर्य भगवान्-रूप गगनलिंग की योनि या भर्ग है, उन्हीं की लीला को शैवों ने शिवक्रम में और शाक्तों ने शाक्त क्रम में उतारा है। पृथ्वी के सामान्य जो लोक-देवता या आदिम लोक-देवियां है जो इस प्रकाशोपासना की आर्द्रता को अपने साथ नहीं ले सके वे चाहे शैव हों, शाक्त हों या वैष्णव, वे दर्शन-विद्या के पद पर या आसन पर आरूढ़ होने के अधिकारी नहीं हो सके। अतः वेद-विद्या के स्पर्श से आगम का और आगम के आलिंगन से वेदविद्या का मण्डल ही राष्ट्र की कल्पना को जन्म दे सका। अतः प्राचीन भारत की सभी लौकिक विचारधाराएं जो गगनलिंग सूर्य के प्रकाश में दीक्षित हैं वे ही दर्शन बन सकी है "अन्यास्तु गणिका इव"।

वस्तुतः तंत्रशास्त्र या आगमशास्त्र का लक्ष्य यही रहा है कि मानवमात्र की इच्छा, ज्ञान और शक्तियों को पहचान कर उन्हें समूचे तौर पर व्यावहारिक जीवन में अपने दैनन्दिन क्रियाकलाप में प्रयोग से प्रत्यक्ष रूप में देख लिया जाए। साधना या परीक्षणों के द्वारा उपार्जित शक्तियों के विभिन्न रूपों के तारतम्य को देख कर उनका लोकहित में प्रयोग किया जाए। वैदिक तंत्र इस बात को स्पष्ट करते हुए कहता है कि ब्राह्मण को चाहिए वह नियतात्मा और तपोयुक्त होकर भूतों पर अनुकम्पा की दृष्टि रखते हुए सिद्धि को प्राप्त करे।[17] अतः तंत्र यदि किन्हीं परा और अपरा शक्तियों के रहस्य को समझने का प्रयास है तो वैदिक ऋषियों द्वारा वेदों में प्रस्फुटित ऋचाएं या मंत्र उन्हीं शक्तियों की प्रकट शब्दमूर्तियां हैं जिनके मूल में कोई न कोई अलौकिक आर्ष प्रतिभा है। उस शब्दमूर्ति की स्वाध्याय या तप की बिधि के द्वारा भावना करके वैसे ही फल प्राप्त किया जा सकता है। वैदिक तंत्र इस विषय में गायत्री उपासना या सावित्री उपासना के बारे में वैसे ही विधि और अर्थवादों का वर्णन करते हैं जैसे कि अन्य शाक्त या शैवागम प्रमाण के लिए ईसा पूर्व के कुछ वैदिक विधान एवम् अर्थविधान आदि वैदिक मंत्रशास्त्र को लेकर लिखा गया ब्राह्मणग्रन्थ भाग इतना बड़ा साहित्य है जिसे पूर्णतः वैदिक-तंत्र कहा जा सकता है। इस "विधान साहित्य" की चर्चा करते हुए श्री एम. एस. भट्ट कहते हैं कि विधान शब्द दो अर्थों में प्रयुक्त हुआ – 'prescription' या 'sorcery practice' अर्थात् विधि या तकनीक अथवा जादुई या आभिचारिक क्रियाओं के रूप में।[18]

अतः यह बात निर्विरोध रूप से कही जा सकती है कि इन विधान-ग्रन्थों में मंत्र और आगम के वे सभी रूप उपलब्ध हैं जिनमें मंत्रशक्ति आदि के विनियोग के द्वारा इष्टफल को प्राप्त करने या विज्ञान रचना करने अथवा परम सत्ता के साथ तादात्म्य स्थापित करने की मुक्त रूप से चर्चा हुई है। परम शिव से लेकर पृथिवी तत्त्व की छोटी से छोटी इकाई तक सत्ता के नाना रूपों के प्रसार प्रचार विधि एवम् प्रयोग का वर्णन इसका द्योतक हैं कि

तंत्र या आगम किसी भी स्तर पर अवैदिक नहीं है। वैदिक तंत्र का सर्वोच्च रूप उपनिषदों की ब्रह्म-विद्या के रूप में विकसित हुआ। ब्रह्मानुभूति को भी प्रेषित करने की स्थिति में आर्ष लोगों को किन्हीं सात्त्विक विधियों को अपनाना पड़ा है। वे सभी विधियां वैदिक दर्शन की जन्मभूमि बनी है। केवल कुछ बाहरी प्रकार भेदों के बल पर शैव, शाक्त, वैष्णव आगमों को अवैदिक कह देना उन विद्वानों को गहन और निष्पक्ष बोध के ज्ञाता होने से रोक देता है। इसलिए सार रूप में इसी बात का निगमागम मर्मज्ञ श्री गोपीनाथ कविराज के शब्दों में इस प्रकार दे रहा हूं कि – "वेद और तंत्र शब्दात्मक होते हुए भी वास्तव में ये दोनों ज्ञान के प्रकार भेद ही हैं। ...... वेद की तरह तंत्र क्रम भी बोधात्मक और वागात्मक हैं।[19] तंत्र की अवैदिकेतरता पर वे पुनश्च कहते हैं कि – "तान्त्रिकधारा की भी बहुतेरी दिशाएं हैं। उनमें से एक धारा वैदिकधारा के अनुकूल थी। भावी गवेषकों द्वारा गम्भीर तुलनात्मक आलोचना होने पर यह समझ में आएगा कि वैदिक धारा का उपासना-क्रम अधिकांश में तत्त्वतः तांत्रिक धारा के साथ एक सूत्र में गूंथा हुआ है, और बहुत से तांत्रिक विषय बहुत प्राचीन काल से ही परम्परा-क्रम से चले आ रहे हैं। मेरा विश्वास है उपनिषद् आदि में जिन गुप्त विद्याओं का परिचय मिलता है, जैसे – संवर्ग, उद्गीथ, उपकोसल, भूमा, दहर आदि - ये सब इसी के अन्तर्गत हैं। मेरा विश्वास है, वेद के रहस्य अंश में भी इस सारी रहस्य विद्याओं का परिचय मिलता है। यदि इन सब रहस्य विद्याओं का किसी दिन तत्त्व-निर्णय हो, तो यह बात समझ आएगी कि मूलभूत वैदिक और तांत्रिक या आगमिक ज्ञान में विशेष भेद नहीं हैं।"[20]

– सन्दर्भ –

1. "रिलिजनस् ऑफ इण्डिया" पृ० 7-12 लेखक-थामस बेरी, प्रकाशक-दी ब्रूस पब्लिशिंग कं., न्यूयार्क, 1971
2. "सोमसूर्यानलात्कम्" -- कामकलाविलास, पद्य 34 पर चिद्वल्ली टीका।
3. वृहदारण्यकोपनिषद् 1.4.5
4. वही०, 1.5.3
5. स्तव-चिन्तामणि-श्लोक 77
6. गायत्र्या गीयते यस्य धियां तेजः प्रचोदकम्।
   चोदयेदपि कच्चिन्नः स धियः सत्पथे प्रभुः। वही० श्लोक 69
7. वही, पृ० 86-87
8. वरिवस्यारहस्य, पृ० 36
9. सेतुबन्ध, विश्राम-1, पृ० 24
10. "गायत्रं त्वो गायतिशक्वरीषु" ऋग्वेद, 6.2.24
11. श्रीमद्भगवद्गीता, 10-22
12. वही, 10-35

13. "नमस्ते तुरीयाय दर्शताय पदाय परोरजसे" बृहदारण्यकोपनिषद् 5.14.7
14. शारदातिलक, पटल 14 में विशेष देखें।
15. कामकलाविलास, श्लोक-1
16. वही०, श्लोक-2
17. Vedic Tantrism
18. वही., पृ. 15
19. तांत्रिकसाधना और सिद्धान्त, पृ० 2-3
20. वही., पृ. 14

परिशिष्ट

शैव - शाक्त ग्रन्थों का संक्षिप्त परिचय एवम् विवरण

1. शिव दृष्टि – सोमानन्द रचित यह एक प्रकरण ग्रन्थ है जिस पर उत्पलदेव की टीका प्रथम चार आह्निकों पर उपलब्ध है। इस ग्रन्थ में सात अह्निक है जिनमें 700 श्लोक अनुष्टुप छन्द में निबद्ध हैं। अपने ग्रन्थ का उद्देश्य स्पष्ट करते हुए कहते हैं :-

आत्मैव सर्वभावेषु स्फुरन्निर्वृतचिद्विभुः।
अनिरूद्धेच्छा प्रसरः प्रसरद्दक्क्रियः शिवः।। 1-2

इसी को आधार बना कर प्रथम आह्निक में उन्होंने तर्कसंगत माध्यम से प्रतिपादित किया है कि शिव क्यों और कैसे भौतिक साकार रूप में उन्मीलित और मोक्ष में निमीलित होते हैं। द्वितीय आह्निक में वैय्याकरणों के वाक्-सिद्धान्त का खण्डन और अपने मत का मण्डन किया गया है। तृतीय में उन्होंने शाक्तो, शैव द्वैतवादियों और योगाचार्यों के मतों का खण्डन किया है। चतुर्थ में शैवाद्वैत का युक्तिसंगत प्रमाणों से प्रतिपादन किया है। पञ्चम में सृष्टि की रचना-प्रक्रिया में शैवी-चेतना का निर्देशन और षष्ठ में परमेश्वर अथवा पूर्ण सत्य के विषय में इतर मतों की अतार्किकता दिखाकर सप्तम में दिव्य-शक्तियों के कारणभूत रहस्य और उन्हीं शक्तियों से परमशिव की प्राप्ति का प्रतिपादन किया गया है।

2. महार्थमञ्जरी – महेश्वरानन्द रचित इस ग्रन्थ में 70 पद्य है जिन पर उन्होंने स्वयम् व्याख्या लिखी है। अपना उद्देश्य स्पष्ट करते हुए वे कहते हैं – "अथ तंत्रप्रतिपाद्यमर्थं तत्परिज्ञानस्य प्रयोजनतया अन्वेष्यतां च अभिद्धानः तंत्रकृत् तत्रैव आवृत्या तत्प्रयोजनम् आत्मविमर्शस्वरूपम् अम्युपेयतया उपपादयति"। अतएव प्रथम पद्य में मंगलाचरण करके द्वितीय में प्रतिपाद्यमान वस्तु का निर्देश करके तीसरे चौथे पांचवें में आत्म-तत्त्व सम्बंधित तीन प्रमाण प्रस्तुत किए हैं, पद्य 6 में अधिकारी विभाग व्यामोह, 7वें में विधिनिषेध का निर्देश, 8वें में संसार का स्वरूप निरूपण, 10वें में विमर्श का विचार, 13-25 तक में 36 तत्त्वों का विचार, 26 में मुक्ति के लिए परमार्थ की समालोचना, 27 में विश्व का प्रकाश और विमर्श में उद्भावन और अन्तर्भावन, 28 में एक वस्तु शिवशक्ति का विभाजन, 29 में परमेश्वर के विश्वरूपी शरीर की शक्ति के उत्कर्ष की स्थापना, 30 में विश्व की विचित्रता के माध्यम से परमेश्वर की अविकलावस्था, 31 में प्रमाता आदि की त्रिपुटी, 32-33 में सत्य और असत्य का विभाग, 34-35 में दोनों के माध्यम से सत्य का विशिष्ट अवभासन, 36-41 में श्रीयंत्र के क्रम का विचार, 42-46 में पञ्च-पूजा पद्धतियां, 47-48 में दोनों देवताओं का स्वभावनिर्णय, 49 में मंत्रतंत्र का उद्धार, 50 में वाग्वृत्तिविचार, 51 में मुद्रा-तत्त्व-विचार, 52 में विमर्श-शक्ति द्वारा भोग और अपवर्ग की प्राप्ति, 53 में जीवन्मुक्त का

विचार, 54 में आत्मस्वरूप के आनन्द का वर्णन, 55-57 में तत्त्व बोधन का विचार, 58-63 में विमर्श में प्रवेश विचार, 64-65 में निश्चिन्त दशा का निर्णय, 66 में स्वात्मविमर्श की सद्यः सिद्धि, 67 में विमर्श के उदय का गुरुकटाक्षाधीन होना, 68 में मुक्त जीवों के लिए सम्पूर्ण दर्शन का सार, 69 में तंत्रज्ञ का संग्रहण, 70 में सिद्ध योगियों की वन्दना कर ग्रन्थ समाप्त होता है।

3. षट्त्रिंशतत्त्वसन्दोह – 36 तत्त्वों का सन्दोहन (सम् + दुह) करके जीव सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को जान सकता है जोकि स्वयं-सिद्ध सत्य है। इस लघ्वाकृति ग्रन्थ में 21 कारिकाएं हैं जो आर्या छन्द में निबद्ध है और इनका लेखक अज्ञात है और इस पर विवरण टीका राजानक आनन्द कवि द्वारा लिखी गई है। शैव दर्शन के शिव तत्त्व से लेकर पृथिवी तक 36 तत्त्वों का निरूपण बहुत स्पष्ट एवम् सरल रूप से किया गया है।

4. श्री मालिनी-विजयोत्तर-तंत्रम् – 23 अधिकारों में 1817 कारिकाओं युक्त यह तंत्र काश्मीर त्रिक-दर्शन के शैव योग के पक्ष का प्रतिपादन करता है। इसके रचनाकार जो कि अज्ञात हैं उसने इसका आविर्भाव दैवी माना है। देवी और परमेश्वर के आपसी वार्तालाप को कुमार (कार्तिकेय) ने ऋषियों को समझाया। इस तंत्र का प्रारम्भिक नाम 'सिद्धयोगीश्वर तंत्र था जिसमें 9 करोड़ कारिकाएं थी जो शैवों के भेद, अभेद और भेदाभेद तीनों दर्शनों की व्याख्या करती थीं तत्पश्चात् इसका संक्षिप्तिकरण (3 करोड़ कारिकाओं) होकर इसका नाम मालिनी विजय हुआ। समयानुसार इसमें 12000 कारिकाएं शेष रह गई और वर्तमान में जो इसका उपलब्ध स्वरूप है वह ऊपर बताया जा चुका है। अतः यह कहना अनुचित नहीं होगा कि मालिनी विजयोत्तर तंत्र सिद्धयोगीश्वर तंत्र का उत्तरकालीन प्रारूप है, इस तंत्र के मतानुसार शिव की पांच शक्तियों (चित्, आनन्द, इच्छा, ज्ञान, क्रिया) ने शैव दर्शन को 92 सम्प्रदायों में विभाजित किया जो आगे तीन भागों में विभाजित हुए – (1) शैव – द्वैतवाद की स्थापना करता है और इसमें 10 तंत्र है। (2) रुद्र– भेदाभेद की स्थापना करता है और इसमें 18 तंत्र है। (3) भैरव – अद्वैतवाद की स्थापना करता है और इसें 64 तंत्र है। इसके नामकरण को स्पष्ट करते हुए जयरथ कहते हैं कि मालिनी देवी की विजय प्राप्ति के कारण यह शैवागमों में श्रेष्ठतम और मुख्यतम है अतः इसका नाम मालिनीविजयोत्तर तंत्र है। दूसरी व्याख्या के अनुसार सभी वर्णों को माला रूप में गूंथने से इसका नाम मालिनी हुआ क्योंकि उत्पत्ति क्रम से कौन सा वर्ण प्रथम और कौन सा अन्तिम है इस विषय में चर्चा की गई है। (व्याकरण में वर्णों को स्थान के अनुसार विभाजित किया गया है उत्पति के क्रम के अनुसार नहीं।) अतः इस दृष्टि से 'न' की उत्पत्ति सर्वप्रथम और 'फ' की उत्पत्ति अन्तिम है। इन वर्णों में एवम् मानवीय शरीर के अंगों में अद्‌भुत समानता है। शरीर में वर्णों की आकृत्यानुसार स्थापना कर मुद्रा (पर, अपर और परापर) सिद्धि की प्राप्ति की बात कही

गई है। अतएव यह ग्रन्थ अपने मूल रूप में अपेक्षाकृत दुर्बोध है परन्तु अभिनव की मालिनी विजय वार्तिक (टीका) ने इसे सुबोध कर दिया है।

इस तंत्र में सम्पूर्ण ज्ञेय को दो भागों-स्वीकार्य और अस्वीकार्य में विभाजित किया है। शिव, शक्ति, विद्येश, मंत्र, मंत्रेश्वर और जीव - ये स्वीकार्य है और मल, क्रिया, माया, सृष्टि आदि अस्वीकार्य हैं और मुक्तावस्था दोनों के उपयुक्त भेद को समझने में है। अतएव विद्यमान 36 तत्त्वों को सृष्टि क्रम में चार भागों - पार्थिव, वास्तविक (material), मायिक और शाक्तिक में विभाजित किया है। पार्थिव भाग धारिक कला से नियन्त्रित है जिसमें एक तत्त्व, एक वर्ण, एक मंत्र और 26 भुवन हैं जो 'क्ष' से बोधित होते हैं। वास्तविक भाग आप्यायनी कला से नियन्त्रित है जिसमें जल से लेकर 23 तत्त्व और पांच अक्षर, पांच मंत्र और 56 भुवन है। मायिक भाग बोधिनी कला से नियन्त्रित है जिसमें 7 तत्त्व, 28 भुवन, 7 वर्ण, 2 शब्द, 2 मंत्र है। शाक्तिक भाग उत्थूयिनी कला से नियन्त्रित है और इसमें 3 तत्त्व, 3 वर्ण, एक मंत्र। शिव अन्तिम तत्त्व हैं जिसे अवकसदा कला कहते हैं जिसमें 16 वर्ण, एक मंत्र और एक शब्द है। और क्रमशः इनके देवता ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र और ईश्वर हैं।

5. श्रीमालिनी विजयवार्तिकम् – प्रस्तुत वार्तिकम् जिसमें दो काण्ड हैं। जिनमें से प्रथम काण्ड में 1135 कारिकाएं और द्वितीय काण्ड में 335 कारिकाएं हैं जिन्हें अभिनव गुप्त ने अपने दो शिष्यों – कर्ण और मन्द के लिए श्री मालिनी विजयोत्तर तंत्र की व्याख्या करने के लिए लिखी हैं, जोकि पूर्वाम्नाय (काश्मीर शैवाद्वैत) पर श्रेष्ठतम ग्रन्थों में से एक है, जिसके प्रथम काण्ड में श्री मालिनी विजयोत्तर तंत्र के प्रथम 17 अधिकारों के विषय को स्पष्ट किया गया जबकि द्वितीय काण्ड में 18 से 23 तक के अधिकारों के विषय का विवेचन किया गया है अतएव प्रस्तुत वार्तिक आगम-शास्त्र का दीप स्तम्भ है।

6. शैव-परिभाषा – सन् 1564 में (शैवसिद्धान्ततत्त्वानां संग्रहेण प्रतिपादनात् शैव परिभाषा इति) पांच परिच्छेदों से युक्त यह ग्रन्थ, गुरू प्रदत्त शिवाग्र योगीन्द्र उपाधिधारी दक्षिण भारतीय शिवाचार्य द्वारा रचित, शैव सिद्धांत के आगमों के ज्ञानपाद का तत्त्वान्वेषण करता है, जिसके प्रथम परिच्छेद में प्रमाण (आत्मचिच्छक्तेरेव - प्रमाणम्) अर्थात् प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द का शैव दृष्टि से प्रतिपादन, द्वितीय परिच्छेद में पति, ईश्वर के प्रभेद, जगत के उपादान का प्रतिपादन, तृतीय परिच्छेद में देहेन्द्रिय आदि से व्यतिरिक्त पशु का चिद्रूप पति से अनन्यता का प्रतिपादन, चतुर्थ में शिव के आनन्द की अभिव्यक्ति के विरोधी पाश के भेद और स्वरूप का प्रतिपादन, पञ्चम में दीक्षा आदि द्वारा मुक्ति का और मुक्तों का प्रतिपादन किया गया है और इस ग्रन्थ में 35 अन्य शैव ग्रन्थों के वाक्यों को प्रमाण रूप में प्रस्तुत किया गया है।

7. वामकेश्वरीमतम् – अज्ञात लेखक रचित, जयरथ द्वारा टीकांकित इस ग्रन्थ के आठ पटलों में से उपलब्ध पांच पटलों में 377 कारिकाएं हैं, जिनमें देवी त्रिपुरसुन्दरी की उपासना पद्धति का दार्शनिक प्रतिपादन है, शेष तीन पटल समूह को 'योगिनी हृदय' कहा जाता है जो अन्तः उपासना को स्पष्ट करता है जिस पर अमृतानन्द नाथ की टीका है। प्रथम पटल में संसाराविर्भाव-तिरोभावात्मकातिदुर्घटकार्यत्वप्रदर्शन, मूलत्रिकोण, षोडशनित्याएं, चक्रस्वरूप, विद्योद्धार, द्वितीय पटल में जगत्क्षोभ तथा उसके प्रकारान्तर, यंत्रप्रपञ्च, तृतीय पटल में त्रिखण्डामुद्रा, चतुर्थपटल में ज्ञानस्वरूप, शक्ति का सर्वकर्तृत्व, शक्ति का बीज साधन, पञ्चमपटल में जपहोम, विधिप्रश्न, जपविधान, होमविधि का सुन्दर निदर्शन है। इस ग्रन्थ में 16 अवान्तर ग्रन्थों को उद्धृत किया गया है।

8. शिव सूत्र वार्तिकम् – स्वप्न में शिव द्वारा वसुगुप्त को निर्दिष्ट 77 सूत्र, जो तीन उन्मेषों में विभक्त हैं, उस पर वरद्धराज का वार्तिक 388 कारिकाओं में निबद्ध है, जिसके प्रथम उन्मेष (शाम्भवोपाय) में आत्मा, ज्ञान, कला, शक्तिचक्र, चक्र सिद्ध, द्वितीय उन्मेष (शाक्तोपाय) में मंत्र, मंत्ररहस्य, उपाय, मातृकाचक्र सम्बोध, तृतीय उन्मेष (आणवोपाय) में चित्त, माया, आत्मा, पुनरुत्थान, विश्व, स्थितिलय का विवरण उपलब्ध है।

9. प्रत्यभिज्ञा हृदयम् – क्षेमराज रचित 20 सूत्र और उन पर स्वलिखित वृत्ति शैव दर्शन का वेदान्तसार है, जिसमें चिति, विश्वोन्मीलन, चित्त, मायाप्रमाता, संसारी, बललाभ, जीवन्मुक्ति, आनन्दलाभ, उपाय आदि का तर्क एवम् युक्तिसंगत प्रतिपादन है।

10. उड्डामरेश्वर तंत्र – भैरव श्रेणी के तंत्रों में समाहित यह तंत्र 15 पटलों में जादू सम्बंधित प्रयोगों का समर्थन करता है, जो कि वास्तव में वीरभद्रेश्वर तंत्र का संक्षिप्त रूप हैं। गद्य पद्य का इसमें मिश्रित प्रयोग है।

11. महानय प्रकाश – 14 उदयों में निबद्ध इस आगम के कर्त्ता शितिकण्ठाचार्य है जिस पर प्रोक्ताचार्य की विवृत्ति है। स्वरूप विश्रान्ति के लिए शब्दार्थ रूप देव, अकुल शक्ति, सर्गावतार क्रम जिसमें विश्वबीज नाद, बिन्दु और अग्निसोम का संयोजन, भूमिका विशेष, पीठचक्र, वामेशी सम्प्रदाय, वृन्द-क्रम, महाक्रम, स्थिति क्रम, संहार क्रम का युक्ति संगत विवरण प्राप्य है।

12. स्तवचिन्तामणि – श्री भट्टनारायण विरचित, क्षेमराज द्वारा विवृत 120 पद्यों में परमेश्वर के वाक्-शरीर का बिन्दु नाद में प्रसार, माहेश्वर का स्वातन्त्र्य, तत्त्व के परिज्ञान में भक्ति आदि का वर्णन तथा शेष अधिकतर पद्य स्तुतिपरक है।

13. बोधपञ्चदशिका – त्रिक शास्त्र-सम्प्रदाय में जिज्ञासु सुकरमति शिष्यों के लिए 16

पद्यों में अभिनवगुप्त ने साररूप में त्रिकदर्शन स्पष्ट किया है जिस पर हरभट्टशास्त्री का विवरण उपलब्ध है। इस ग्रन्थ में नित्योदित संवित् के विषय में प्रमाण व्यापार की असमर्थता,शिवाद्वयभाव की सिद्धि, विश्ववैचित्र्य में उद्देश्य, निमित्त की शंका का परिहार, भेदामर्शन में भैरवाद्वैत की स्थापना, स्वातन्त्र्य-विलास, बोधरूपता, अणुबन्ध, बन्ध मोक्ष कल्पना का सरल तर्क सम्मत प्रतिपादन है।

14. परमार्थ चर्चा – अभिनवगुप्त रचित और हरभट्टशास्त्री द्वारा विवृत 9 पद्यों में त्रिकशास्त्र के शाम्भवोपाय द्वारा परभैरव-समावेशोन्मीलन का स्पष्टीकरण है।

15. श्रीसिद्धमहारहस्यम् – आठ आह्निकों में अमृतवाग्भवाचार्य ने शिवशक्ति में सम्पूर्ण सृष्टि को समन्वित कर उसे दर्शन का रूप देने की चेष्टा की है परन्तु यह भक्ति स्तोत्र अधिक लगता है।

16. श्रीललितास्तवरत्नम् – दुर्वासा रचित इस ग्रन्थ के 214 पद्यों में श्री चक्र का साहित्यिक वर्णन है।

17. सुभगोदय स्तुति – गौड़पादाचार्य रचित और प्रकाशानन्द भारती की भावबोधिनी टीका युक्त इस ग्रन्थ के 52 पद्यों में श्रीदेवी दर्शन, योगिनी कृत्य, कुण्डलिनी दर्शन, शिव शक्ति चक्रैक्य निरूपण, पञ्चदशी मंत्रोद्धार, मातृका प्रत्याहार, चक्र निरूपण, कौल पूजा का वर्णन समाहित है।

18-22 भावनोपनिषद् (36 सूत्र), श्री त्रिपुरोपनिषद् (16 मंत्र), श्री ललितामहात्रिपुरसुन्दर्युपनिषत्, देव्यथर्वशीर्षोपनिषत्, श्री कौलोपनिषत् – ये सभी शैव-शाक्त दर्शन के आधारभूत ग्रन्थ है।

23. श्रीत्रिपुरसुन्दरीमहिम्नस्तोत्रम् – देशिकेन्द्र दुर्वासा विरचित लघ्वाकृति ग्रन्थ में त्रिपुरसुन्दरी का 58 पद्यों में वर्णन है जिस पर श्रीनित्यानन्द की टीका उपलब्ध है। सम्पूर्ण दार्शनिक - दृष्टियों को त्रिपुरसुन्दरी में भक्ति-दृष्टि से समन्वित किया गया है।

24. परशम्भुमहिम्नस्तव – देशिकेन्द्र दुर्वासा कृत 13 प्रकरण वाले इस ग्रन्थ में क्रमशः उपोद्घात, पराशक्ति, इच्छाशक्ति, ज्ञानशक्ति, क्रिया शक्ति, कुण्डलिनी शक्ति, मातृक शक्ति, श्री षडन्वयरश्मिविवेक, पावकध्यानयोग, महाविभूति, अन्तर्यागोपचार-परामर्श, विशेषोपचार-परामर्श-शान्ति का सविस्तार वर्णन कर अन्त में उपसंहार किया गया है। भक्तयोगी के लिए श्रेष्ठ ग्रन्थ है।

25. पञ्चस्तवी – मूल रूप में यह कालिदास रचित लघुस्तुति, घटस्तव, चर्चास्तुति,

अम्बास्तुति, सकल जननीस्तव का संग्रह है जिसमें दार्शनिक स्तुतियों है।

26. नान्दीकेश्वर काशिका – 26 कारिकाओं में नन्दिकेश्वर द्वारा माहेश्वर के 14 सूत्रों की शैव दार्शनिक व्याख्या उपस्थित की है जिस पर उपमन्यु की टीका है।

27. शाक्त दर्शनम् – आधुनिक समय में चक्रेश्वर भट्टाचार्य रचित इस ग्रन्थ में दस परिच्छेद हैं जिनमें क्रमशः शक्ति स्वरूप, शक्ति भेद, शक्ति कथानकों का रहस्य, जगद्रहस्य एवं षट्त्रिंशत्तत्त्व, उपासना-विधि, विश्वरूप रहस्य, भिन्न-शक्ति नामों का रहस्य दशमहाविद्या रहस्य, शक्ति-पीठ रहस्य का वर्णन है। गद्य पद्य युक्त यह ग्रन्थ सरल भाषा में निबद्ध है।

28. वरिवस्यारहस्य – श्रीचक्र और पञ्चदशी मंत्र की व्याख्या भास्करराय मखिन् ने इस ग्रन्थ में की है जिसमें ज्ञेय ब्रह्म प्रकाश, विमर्शात्मक-शक्ति के ज्ञानार्थ चतुर्दश-विद्या की सारभूता गायत्री, त्रयी विद्या-कूट, हल्लेखास्वरूप, मंत्राक्षर स्वरूप, अर्थानामुद्देशक्रम, पूजा का अन्तरङ्ग बहिरङ्गव्यस्था का 167 पद्यों में वर्णन है।

29. काम कला विलास – 55 कारिकाओं पुण्यानन्द नाथ ने माहेश्वर, शक्ति, पराशक्ति, महाबिन्दु, शिवशक्ति मिथुन रूपी वागर्थ सृष्टि, काम और कला का स्वरूप, देवी चक्र, बिन्दुत्रय, मातृकात्रय, वसुकोण, दशारचक्र आदि, त्रिखण्डामुद्रा, कादि, हादि विद्या का निरूपण टीका सहित किया है।

30. सौन्दर्य-लहरी – शंकराचार्य द्वारा रचित 103 पद्यों में से पहले 19 पद्यों में शिव शक्ति अभिन्नता और उनका विस्तार श्रीचक्र के माध्यम से स्पष्ट किया है जो दार्शनिक रूप से अति प्रौढ़ हैं, इसलिए इस ग्रन्थ पर 9 टीकाएं उपलब्ध हैं, शेष पद्यों में शक्ति की स्तुति और उनके सौन्दर्य का निरूपण है।

31. भुवनेश्वरी रहस्य – 22 पटलों युक्त यह ग्रन्थ मूलरूप से एक साधन प्रधान, प्रयोग प्रधान है जिसमें एकाक्षरीविद्या, 14 मंत्र भेद, तत्त्व विद्या, शेष पूजा पटल में सम्बन्धित हैं।

32. गायत्री तंत्र – 5 पटलों में शंकराचार्य के नाम पर उपलब्ध यह ग्रन्थ गायत्री स्वरूप और उसके महत्व को लेकर रचित है परन्तु इसमें उपलब्ध विवरण धर्मशास्त्र के क्षेत्र का अधिक है।

33. तंत्रराज तंत्र – सौ सौ पद्यों वाले 36 पटलों में विभाजित इस ग्रन्थ में तन्त्र के 36 तत्त्वों के नाम के आधार पर पद्य रचे गए हैं, उन पर भास्कर राय की टीका उपलब्ध है जो तन्त्र में प्रतिपादित कादि, हादि और काहादि की सुस्पष्ट व्याख्या दार्शनिक आधार पर करते हैं। तंत्र का आरम्भ शिवशक्ति के सम्वाद से होता है जिसमें देवी 16 नित्याओं युक्त

अपने लिए स्वतंत्र तंत्र के लिए प्रार्थना करती है और शिव उसे कादि हादि विद्या का उपदेश करते हैं और क्रमशः नाथ, नित्योधार, ललिताविद्या, नित्य पूजा, नैमित्तिक और काम्य कर्म, कामेश्वरी (द्वितीय नित्या) भगमालिनी (तृतीय नित्या), नित्यक्लिन्ना (चतुर्थ नित्या), भेरुण्ड (पञ्चमी नित्या), वह्निवासिनी (षष्ठ नित्या), महावज्रेश्वरी (7वीं नित्या) दूती (8वीं नित्या), त्वरिता (9वीं नित्या) कुलसुन्दरी (10वीं नित्या), नित्या देवी (11वीं नित्या), नील पताका (12वीं नित्या), विजया (13वीं नित्या) सर्वमंगला (14वीं नित्या), ज्वालामालिनी (15वीं नित्या), चित्रा (16वीं नित्या), कुरूकुल्ला सम्बन्धि प्रयोग, वाराही पूजा, षोडश नित्याओं का ध्यान, मातृका और काल, मंत्र महत्व, मातृका और प्राण, काल और दिक्, होम के लिए मण्डप तथा कुण्ड, वास्तुदेवता चक्र, अरिमर्दन होम, सौम्य होम, यंत्र, विधान साधक, सिद्ध आदि का स्पष्टीकरण किया गया है।

34. श्रीनेत्रतंत्रम् – 22 अधिकारों वाले इस तंत्र पर क्षेमराज रचित उद्योत टीका उपलब्ध है। भैरवी भैरव से उनके नेत्र का रहस्य पूछती है और उसी को स्पष्ट करते हुए भैरव कहते हैं कि-

'यन्मे नेत्रान्तरे वह्निर्यद्वामृतमनुत्तमम्।
तत्सर्वं कथयिष्यामि योगयुक्त्या शृणुप्रिये।।'

अतः इस तन्त्र का नाम सार्थक है और वे तीन नेत्रों के रहस्य को स्पष्ट करते हुए कहते हैं -

"सूर्या चन्द्रमसौ वह्निस्त्रिधामपरिकल्पना।
त्रिनेत्र कल्पना मह्यं तदर्थमिह दृश्यते।।"

35. स्वछन्द तंत्रम् – स्वछन्द भैरव के पांच मुख – क्रमशः - ईशान, तत्पुरुष, सद्योजात, वामदेव और अघोर हैं, जिन्हें क्रमशः ऊर्ध्ववक्त्र, पूर्ववक्त्र, पश्चिमवक्त्र, दक्षिणवक्त्र, वामवक्त्र के नाम से अभिहित किया जाता है और जो उसकी - चित् आनन्द, इच्छा, ज्ञान और क्रिया शक्तियों के द्योतक है जिनके आधार ऊर्ध्वाम्नाय, पूर्वाम्नाय, पश्चिमाम्नाय, दक्षिणाम्नाय और वामाम्नाय हैं। यह स्वच्छन्द भैरव के अघोर मुख की गुह्योपासना में दीक्षित करता है जिसका माध्यम उपासना ओर क्रिया है। और यह तंत्र शैवाद्वैत मार्ग का प्रवर्तक है। दैवी-उत्पति वाले इस तंत्र का आरम्भ शक्ति और भैरव के सम्वाद से होता है जो 15 पटलों में भिन्न-2 विषयों – मन्त्रोद्धार, अर्चाधिकार, अधिवास, दीक्षाभिषेक, तत्त्वादिदीक्षा, पञ्चणवाधिकार, अभीष्ट सिद्धि साधन, भुवनादिदीक्षा निरूपण, तत्त्वाध्वसृष्टि निरूपण, तत्त्वसाक्षात्कार, यागाराधन, मुद्रालक्षण, छुम्मानिरूपण आदि का वर्णन करता है जिन पर क्षेमराज की उद्योत टीका है। इसके कुछ पटल लघु और कुछ पटल अतिदीर्घ है। फिर भी यह श्रेष्ठ मंत्र शास्त्र है।

36. ईश्वर प्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी – उत्पलदेव की 190 कारिकाओं पर अभिनव गुप्त द्वारा विमर्शिनी लिखी गई है जो चार अधिकारों में विभाजित है - 1. ज्ञानधिकार में उपोद्घात, पूर्वपक्षविवृति, परदर्शनानुपपत्ति, स्मृतिशक्ति निरूपण, ज्ञान शक्ति निरूपण, अपोहन शक्ति निरूपण, एकाश्रनिरूपण, माहेश्वर्य निरूपण, 2 क्रियाधिकार में – क्रियाशक्ति निरूपण, भेदाभेद विमर्श, मानतत्फलमेय निरूपण, कार्यकारणतत्त्व निरूपण, 3 आगमाधिकार में तत्त्व निरूपण और प्रमातृ तत्त्व निरूपण, 4 तत्त्वार्थसंग्रहाधिकार में – तत्त्वार्थ निरूपण, गुरूपर्वक्रम निरूपण का स्पष्ट प्रतिपादन है।

37. ईश्वर प्रत्यभिज्ञा विवृत्ति विमर्शिनी – उत्पल देव रचित 190 कारिकाओं पर अभिनव गुप्त ने जो विमर्शिनी लिखी थी उसी विमर्शिनी पर पुनः अभिनव गुप्त ने विवृत्ति विमर्शिनी लिखी है, जो चार आधिकारों और 16 अधिकरणों में विभाजित है। (देखिए टिप्पणी संख्या – 36)

38. शारदातिलक तंत्र – 25 पटलों वाला यह बृहत्काय ग्रन्थ लक्ष्मण देशिकेन्द्र प्रणीत है जिस पर पदार्थादर्श नामक टीका राघवभट्ट द्वारा रचित है। ग्रन्थ के नाम के विषय में कहा गया है – "शीर्यंत इति शारं स्थूलं कर्मफलं तद्ददातीति शारदा। तत्तकारणत्वेन ब्रह्मविद्याधिरूढ़ा सती द्यति खण्डयतिति वा शारदा चिच्छक्तिः। यद्वा शरः स्वतंत्रं तस्य भावः शारं स्वातंत्रं तद्ददातीति अनाद्यविद्या परिहृयदय जीवभावनिरासेन परमैश्वर्य-प्रदायिका।" इसके पटलों का विषय – महः स्तुति, शिव शक्तिरभेद, नादोत्पत्ति, शब्दब्रह्मोत्पत्ति, वैखरी सृष्टि, दीक्षाङ्गनिर्णय, दीक्षाप्रकरण, अग्निजनन, मातृका-परिचय, भूतलिपि, लक्ष्मीमन्त्र, भुवनेश्वरी विद्या, त्वरिता विद्या, दुर्गा विद्या, भैरवी विद्या, गणपति विद्या, सौर विद्या, विष्णु विद्या, नृसिंह विद्या, पुरुषोत्तम विद्या, शिव प्रकरण, दक्षिणामूर्ति प्रकरण, अघोर प्रकरण, गायत्री प्रकरण, दिनास्त्रकृत्यास्त्र मंत्र, त्र्यम्बकप्रकरण यन्त्र प्रकरण और योग प्रकरण है।

39. परात्रिंशिका – भैरव-भैरवी का 30 पद्यों में निबद्ध सम्वाद पर अभिनवगुप्त की 'तत्त्वविवेक' टीका है जिसमें त्रिकशासनान्तर्गत भक्ति, कर्म और ज्ञान तीनों मार्गों का प्रतिपादन है। देवी द्वारा कौलिक सिद्धि और खेचरी विद्या के प्रश्न के प्रत्युत्तर में शिव अ से ह तक मातृका के माध्यम से स्पष्टीकरण देते हैं।

40. बृहन्नील तंत्र – नील सरस्वती की पूजा क्रम की सूचना देने के कारण इसे नीलतंत्र नाम दिया गया है और 11 वें पटल में इस नाम का स्पष्टीकरण दिया गया है। महाकाल भैरव और महाकाली का यह सम्वाद 24 पटलों में क्रमशः नीलतंत्र प्रकाशन के लिए भैरवी की प्रार्थना पर नील सरस्वती मंत्रोद्धार, पूजास्थान निरूपण, दीक्षा विधि, पुरश्चर्या विधि, शक्त्यर्चन, निग्रहोपाय, यंत्रनिरूपण, वीर साधन में षोडशोपचार, श्मशान साधन, नील

सरस्वतीमंत्र, विद्योत्पत्ति निरूपण. मंहाकाली मंत्र निरूपण, कामाख्यामंत्र निरूपण, साधन स्थान, सदाचार, सावंज्ञ कारणान्तर प्रयोग, नील सहस्रनाम, नील सरस्वती कवच, नीलाशतनाम, रसायन विधान, काली सहस्रनाम, कालीशतनाम, अन्नदामन्त्रोद्धार का विवरण समाहित है।

41. स्पन्दसन्दोह – अति लघ्वाकृती यह ग्रन्थ क्षेमराज रचित है। जिसमें स्पन्दकारिका की प्रथम कारिका की विस्तृत विवेचना की गई।

42. विज्ञानभैरव – शिवोपाध्याय की विवृत्ति, भट्ट आनन्द की विज्ञान कौमुदी और क्षेमराज की विज्ञानोद्योत (यह उपलब्ध नहीं है) टीकाओं से युक्त यह ग्रन्थ 163 पद्यों में प्रश्न-प्रतिवचनात्मक शैली में भैरवी और भैरव के सम्वाद को समाहित किए हुए **हैं। जिनमें** परमतत्त्व विषयक आठ प्रश्न, शक्तित्रय, परमतत्त्व का निष्कल स्वरूप, 112 **धारणाएं नाद** भावना, क्रमदर्शन की मुद्राएं, भैरव स्वरूप, जीवन्मुक्त विवेचन अजपाजप **और फलश्रुति** का वर्णन है।

43. दक्षिणामूर्ति संहिता – देवी और ईश्वर का सम्वाद 56 पटलों में समाहित है जिसमें मुख्य रूप से ललितात्रिपुरसुन्दरी रहस्य का वर्णन है।

44. महानिर्वाण तंत्र – हरिहरानन्द रचित इस तन्त्र के दो भाग थे, जिसमें से द्वितीय भाग अनुपलब्ध है और प्रथम भाग में 14 पटल है। जिनमें शिव शक्ति सम्वाद के माध्यम से कैलाश वर्णन, आगम धर्म का अनुमोदन, ब्रह्म का सत्स्वरूप, प्रकृति, मन्त्रोद्धार, पञ्चमकार, प्रधानकालिका मंत्र, वर्णाश्रमव्यवस्था, संस्कार, कुण्ड स्थापना आदि, पाप की परिभाषा और भेद, दाय भाग, काली प्रकार और लिगोंपासना का विवरण प्रस्तुत किया गया है।

45. उड्डीशतंत्र – रावण और शिव का सम्वाद पूर्वार्द्ध और उतरार्द्ध में निबद्ध है जिसमें षट्कर्म, कर्मो में स्त्री पुंनपुंसकादि मन्त्र, षट्मुद्रा आदि तथा मंत्रसिद्धि के सात उपाय तथा मंत्र सम्बन्धि समस्याओं का विस्तृत विवेचन है।

46. वातूलनाथ सूत्र – इस लघ्वाकृति ग्रन्थ में 13 सूत्र हैं जिन पर अनन्त शक्ति पादाचार्य की टीका है। ये स्वरूप लाभ में महासाहसवृति को मुख्य मानते हैं।

47. कुलार्णवतंत्र – 17 उल्लासों में 2058 पद्यों में शिवशक्ति सम्वाद के माध्यम से प्रथम उल्लास में जीवों का मोक्षोपाय का प्रश्न, शिव स्वरूप, जीवलक्षण, चतुर्विधशरीर आदि, द्वितीय में कुलधर्म महात्म्य, 3 में ऊर्ध्वाम्नाम, चौथे में पराप्रसाद मंत्रोद्धार, पञ्चम में आधार पात्रादि प्रश्न, पष्ठ में पूजक लक्षण, सप्तम में बटुक मंत्रोद्धार, नवम में ध्यान द्वैविध्यवर्णन,

दशम में त्रिविध पूजा, एकादश में कुलपूजाधिकारी वर्णन, द्वादश में गुरूपादुका वर्णन, त्रयोदश में शिष्य गुरू लक्षण, चतुर्दश में दीक्षा, पञ्चदश में पुरश्चरण, षोडश में काम्यक कर्मविधान, सप्तदश में प्रार्थनामंत्र आदि का वर्णन है।

48. स्पन्द निर्णय – स्पन्द-कारिका की कारिकाओं पर क्षेमराज रचित टीका का नाम स्पन्द निर्णय है जो कि चार निष्यन्दों में विभक्त है। क्षेमराज ने स्पन्द के साकारात्मक और नकारात्मक दोनों पहलुओं का वर्णन किया है।

49. सिद्धित्रयी – उत्पलदेव रचित अजडप्रमातृसिद्धि, ईश्वरसिद्धि सम्बंधसिद्धि तीन लघ्वाकृति ग्रन्थों का संग्रह सिद्धित्रयी के नाम से जाना जाता है जिस पर स्वयं उन्होने वृत्ति भी लिखी है।

50. प्रत्यभिज्ञाकारिका वृत्ति – उत्पल देव द्वारा रचित यह ग्रन्थ ज्ञानाधिकार, क्रियाधिकार आगमाधिकार, तत्त्वार्थसंग्रहाधिकार में विभाजित है जिस पर उन्होंने स्वयं वृत्ति लिखी है। इस ग्रन्थ का विषय अधिकारों के नामों से स्पष्ट है।

51. कल्पचिन्तामणि – दामोदरभट्ट रचित यह ग्रन्थ तंत्र, मंत्र और यंत्र (जो संख्या 72 है) का विवरणवश्याधिकार, आकर्षणाधिकार, स्तम्भनाधिकार, विद्वेषणाधिकार, मारणाधिकार, शत्रोरूच्चाटनाधिकार, शान्त्यधिकार, में शिव-शक्ति के सम्वाद के माध्यम से करता है।

52. माहेश्वर तंत्र – 51 पटलों में 3060 पद्यों को समाहित करने वाले इस विशालकाय ग्रन्थ का नामकरण का कारण 26वें पटल में है। समाधावीरवरेणोक्तमिदं तंत्र यतो मम। तस्मान्माहेश्वरं तंत्रमित्येवंख्यातिमागतम्।। और इस को प्रकट करने के कारण को स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि – इदं माहेश्वरं तंत्र सर्वतन्त्रोत्तमोत्तमम्। सामरस्येच्छया शक्त्या यथाभूतार्थभीरितम।।

53. तन्त्रसार – 22 आह्निकों वाले इस ग्रन्थ की आवश्यकता का स्पष्टीकरण देते हुए अभिनवगुप्त कहते हैं –

विततस्तन्त्रालोको विगाहितुं नैव शक्यते सर्वैः।
ऋजुवचनविनिश्चितमिदं तु तंत्रासारं ततः श्रृणुत।।

और साथ ही इसके उद्देश्य को स्पष्ट करते हुए कहते हैं –

अज्ञानं किल बन्धहेतुरुदितः शास्त्रेमलं तत्स्मृतं।
पूर्णज्ञान कलोदये तदखिलं निर्मूलतां गच्छति।।

ध्वस्ताशेषमलात्मसंविदुदये मोक्षश्च तेनामुना।
शास्त्रेण प्रकटी करोमि निखिलं यज्ज्ञेयतत्त्वं भवेत्।।

प्रत्येक आह्निक के अन्त में अभिनव ने एक पद्य में विचार किए गए विषय को संक्षिप्त रूप से प्रस्तुत किया है। इसके आह्निकों में क्रमशः - विज्ञानभेद, अनुपाय, शाम्भवोपाय, शाक्तोपाय, आणावोपाय, कालाध्वा, देशाध्वा, तत्त्वाध्वा, तत्त्वभेद, कलाध्वा, शक्तिपात, स्नानविधि, समयदीक्षा, पुत्रकदीक्षा, सप्रत्यय दीक्षा, परोक्षदीक्षा, लिङ्गोधार अभिषेक, श्राद्धदीक्षा, समयनिष्कृति, गुरुपूजा पवित्रिका विधि, व्याख्या विधि, आगम प्रमाण और कुल याग का प्रकाशन किया गया है।

54. परमार्थसार – 105 आर्याछन्दों में निबद्ध अभिनवगुप्त के इस ग्रन्थ पर योगराजाचार्य की विवृत्ति उपलब्ध है। शिवाद्वयशासन का प्रतिपादक यह ग्रन्थ है।

55. लुप्तागम संग्रह – गोपीनाथ कविराज द्वारा 221 कृतियों या ग्रन्थकारों की उक्तियों को उद्धृत किया गया है जिनके विभिन्न शैवागमों में केवल नाम ही उपलब्ध होते हैं।

56. तंत्रालोक – त्रिक सम्प्रदाय में तंत्रालोक की पहचान एक संग्रह ग्रन्थ, एक प्रक्रिया या पद्धति ग्रन्थ, एक शास्त्र और एक स्तुति ग्रन्थ के रूप में है जिसका उद्देश्य भैरव रूप की प्राप्ति, चतुर्विधज्ञान की स्थापना, Textual-authority, तंत्र-विज्ञान का सरल ज्ञान, त्रिक परम्परा का पुनर्स्थापन है। आर्या, अनुष्टुप, वसन्ततिलका, मालिनी आदि छन्दों में 5844½ पद्यों को 37 आह्निकों में (पद्यों की संख्या 50 से 451 तक) रचने वाले अभिनव गुप्त पर जयरथ की विवेक टीका उपलब्ध है। इन आहिकों में क्रमशः – विज्ञान भेद, अनुपाय, शांभवोपाय, शाक्तोपाय, आणवोपाय, कालोपाय, चक्रोदय, देशाध्वन्, तत्त्वाध्वम्, तत्त्वभेदन, कलाद्यध्वन्, अध्वोपयोग, पौत्रिक विधि, संक्षिप्त दीक्षा, सद्योनिर्वाण दीक्षा, तुलादीक्षा, परोक्षी-दीक्षा, लिङ्गोधार, अभिषेक विधि, अन्त्ययाग, श्राद्धक्लृप्ति, शेषवृत्ति, लिङ्गार्चा, पर्वपवित्रादि, रहस्य चर्चा, मन्त्रोघ, मण्डल, मुद्रिकादिविधि, एकीकार, स्वरूप प्रवेश, शास्त्रमेलन, आयाति, उपादेयर्भाव इन विषयों का विस्तृत विवेचन उपस्थित किया है।

57. स्पन्दकारिका – स्वरूप-स्पन्द, सहजविद्योदय स्पन्द, विभूतिस्पन्द नामक तीन निष्पन्दों में विभक्त 52 कारिकाओं के लेखक का नाम विवाद पूर्ण हैं जिस पर भट्ट कल्लट की वृत्ति उपलब्ध है। शिव की शक्ति जो स्पन्दात्मक है उसके सृष्टि आदि का विस्तृत वर्णन इस ग्रन्थ में उपलब्ध होता है।

उपयोजित ग्रन्थानुक्रमणिका

क्रमांक	*ग्रन्थ नाम*	*लेखक एवम् संपादक*	*प्रकाशक*
1.	ईश्वरप्रत्यभिज्ञाकारिका	उत्पलाचार्य	काश्मीर संस्कृत-सिरीज काश्मीर, 1930
2क.	ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी (I + II)	अभिनवगुप्त	बुटाला एण्ड कम्पनी, दिल्ली, 1984
2ख.	ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृति-विमर्शिनी (I + II + III)	अभिनवगुप्त	काश्मीर सीरीज काश्मीर 1943
3.	उत्तररामचरितम्	भवभूति (स.-हरिदास शर्मा)	चौखम्बा संस्कृत सीरीज वाराणसी, 1960
4.	उपनिषत्संग्रह (38 उपनिषद्)	सं.-खेमराज श्री कृष्णदास	खेमराज एण्ड सन्स बम्बई, 1910
5.	उड्डामेश्वरतंत्रम्	सं.-जे. डी. जाडू	काश्मीर संस्कृत ग्रन्थावली 1947
6.	ऋग्वेद (दशम मण्डल)	सं.-एन. एस. सोनतके, सी. एच. कशीकर	वैदिक संशोधन मण्डल पूना, 1946
7.	कादम्बरी	बाणभट्ट, (सं.-काशीनाथ पांडुरंग परब)	निर्णय सागर प्रैस बम्बई 1948
8.	कामकलाविलास	पुण्यानन्द	काश्मीर संस्कृत सीरीज, काश्मीर, 1918
9.	कामधेनु	कुबेरनाथ राय	राजपाल एण्ड संस, दिल्ली, 1980
10.	कालिदास-ग्रंथावली	सं.-रेवाप्रसाद द्विवेदी	काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी, 1976
11.	काव्यप्रकाश	मम्मट	ज्ञानमण्डल लिमिटेड, वाराणसी, सं. 2027
12.	काव्यमीमांसा	राजेश्वर	बिहार राष्ट्र भाषा परिषद्, पटना, 1965
13.	काव्यालंकार	भामह	चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी, 1928

14.	खण्डनखण्डखाद्य	श्रीहर्ष	चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी, 1970
15.	गायत्रीतंत्रम्	सं.-तरकनाथ भट्टाचार्य	चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी, 1929
16.	छान्दोग्यपनिषत्	शांकर भाष्य	गीताप्रेस, गोरखपुर, 2028
17.	तत्त्वप्रकाश	सं.-कामेश्वरनाथ मिश्र	चौखम्बा ओरियन्टलिया, वाराणसी, 1976
18.	तर्कसंग्रहतत्त्वदीपिका	जयराम रेड्डी	बाम्बे संस्कृत सीरिज बम्बई, 1930
19.	तंत्रसार	अभिनवगुप्त	काश्मीर संस्कृत सीरिज काश्मीर, 1928
20क.	तंत्रालोक	अभिनवगुप्त सं.-आर. सी. द्विवेदी	मोती लाल बनारसी दास, दिल्ली, 1987
20ख.	तंत्रालोक	अभिनवगुप्त सं.-मधुसूदन कौल	काश्मीर संस्कृत सीरिज 1929
21.	तन्त्र और आगमशास्त्रों का दिग्दर्शन	गोपीनाथ कविराज	बिहार राष्ट्र भाषा परिषद् पटना, 1963
22.	तांत्रिक वाङ्मय में शाक्त-दृष्टि	कविराज गोपीनाथ	बिहार राष्ट्र भाषा परिषद् पटना, 1963
23.	तारा स्वरूप-तत्त्व	श्यामानन्द नाथ	कल्याण मन्दिर कटरा, प्रयाग-2, 1980
24.	तांत्रिक साधना और सिद्धान्त	गोपीनाथ कविराज	बिहार राष्ट्र भाषा परिषद् पटना-4, 1979
25.	दुर्गा सप्तशती	—	गीता प्रेस गोरखपुर, सं. 2021
26.	ध्वन्यालोक	आनन्दवर्धन	ज्ञानमण्डल लिमिटेड, वाराणसी, सं. 2019
27.	नारद पंचरात्र (भारद्वाज संहिता)	टीकाकार-सरयू-प्रसाद मिश्र	श्रीवेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई, 1962
28.	निरूक्त	(यास्क) सं.-मुकुन्द शर्मा	निर्णनयसागर प्रेस, बम्बई, 1930

29.	नेत्रतंत्रम् (भाष्यसहित)	सं.-मधुसूदन कौल	काश्मीर संस्कृत सीरिज काश्मीर, 1939
30.	न्याय सिद्धान्त मुक्तावली (दिनकरी एवं रामरूद्रीटीका)	पंचानन भट्टाचार्य	चौखम्बा संस्कृत सीरीज वाराणसी, 1972
31.	न्याय दर्शन	गौतम	चौखम्बा संस्कृत सीरीज वाराणसी, 1925
32.	परशुराम कल्पसूत्र	परशुराम	काश्मीर संस्कृत सीरिज काश्मीर, 1935
33.	परात्रिंशिका	सं.-मधुसूदन कौल .	काश्मीर संस्कृत सीरिज काश्मीर, 1935
34.	प्रत्याभिज्ञाहृदयम्	(क्षेमराज) सं.-शिवशंकर अवस्थी	चौखम्बा संस्कृत सीरिज वाराणसी, 1970
35.	प्रपंचसार तंत्र	शंकराचार्य	वाणी विलास प्रकाशनम् मद्रास, 1940
36.	प्रशस्तपाद भाष्यम्	सं.-ढुण्ढीराज शास्त्री	चौखम्बा संस्कृत सीरीज वाराणसी-1, 1966
37.	प्राचीन भारतीय वैय्याकरणों के ध्वन्यात्मक विचारों का विवेचनात्मक अध्ययन	सिद्धेश्वर वर्मा	हरियाणा हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, चण्डीगढ़, 1973
38.	पातंजल योगदर्शनम् (व्यास भाष्य)	पंतजलि	चौखम्बा संस्कृत संस्थान वाराणसी, 1984
39.	पातंजल योगप्रदीप	ओमानन्द तीर्थ	गीता प्रेस, गोरखपुर, सं. 2030
40.	बौद्ध संस्कृति का इतिहास	भागचन्द्र जैन	आलोक प्रकाशन, नागपुर, 1972
41.	बृहदारण्यक उपनिषद् (शांकर भाष्यसहित)	–	गीता प्रेस, गोरखपुर, सं. 2029
42.	ब्रह्मसूत्र (शांकर भाष्य)	–	कामकोटिकोशस्थानम्, मद्रास, 1954
43.	भामती - एक अध्ययन	ईश्वर सिंह	मंथन पब्लिकेशन्स, रोहतक, 1983

44.	भारतीय दर्शन	उमेश मिश्र	उत्तर प्रदेश राजकीय प्रकाशन, लखनऊ, 1957
45.	भारतीय दर्शन	राधाकृष्णन्	राजपाल एंड सन्स, दिल्ली, 1973
46.	भारतीय दर्शन	बलदेव उपाध्याय	शारदा मन्दिर, वाराणसी, 1966
47.	भारतीय दर्शन का इतिहास (भाग-5)	सुरेन्द्रनाथ दास गुप्ता	राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ, अकादमी, जयपुर-4, 1975
48.	भारतीय प्रतीक विद्या	जनार्दन मिश्र	बिहार राष्ट्र भाषा, परिषद् पटना, 1959
49.	भारतीय साहित्यशास्त्र	बलदेव उपाध्याय	प्रसाद परिषद् काशी, सं. 2007
50.	मंत्र और मातृकाओं का रहस्य	शिवशंकर अवस्थी शास्त्री	चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी-1, 1966
51.	महार्थमंजरी	महेश्वरानन्द	काश्मीर संस्कृत ग्रन्थावली काश्मीर, 1935
52.	महानय प्रकाशः	शितिकण्ठ	काश्मीर संस्कृत ग्रन्थावली काश्मीर, 1918
53.	महानिवार्णतंत्रम्	हरिहरानन्द	मोती लाल बनारसी दास, दिल्ली, 1977
54.	महात्रिपुरसुन्दरी पूजाकल्पः	सं. रामचन्द्र	रामस्वामी शास्त्री एण्ड सन्स, मद्रास-1, 1952
55.	महिम्नस्त्रोम्	पुष्पदन्त	कैलास आश्रम प्रकाशन, ऋषिकेश, 1962
56.	मानमेयररहस्यश्लोक वार्तिकम्	निवासाचार्य	राजकीय शाखा मुद्रणालय मैसूर, 1925
57.	मालिनीविजय-वार्तिकम्	अभिनव गुप्त	काश्मीर संस्कृत ग्रन्थावली काश्मीर-1921

58.	मालिनीविजयोत्तर तंत्रम्	सं.-मधुसूदन कौल	काश्मीर संस्कृत ग्रन्थावली काश्मीर-1922
59.	योग - समन्वय	अरविन्द	श्री अरविन्द सोसाइटी, पांडिचेरी, 1969
60.	योगिनी हृदयम्	अमृतानंद	सरस्वती भवन ग्रन्थमाला, वाराणसी, 1963
61.	रहस्यवाद	परशुराम चतुर्वेदी	बिहार राष्ट्र भाषा परिषद् पटना-4, 1963
62.	रूद्राष्टाध्यायी	दौलतराम गौड	चौखम्बा संस्कृत सीरीज वाराणसी, 1960
63.	ललितामहात्रिपुरसुन्दरी-महायागक्रमः	भास्कराय (सं.-के. पी. नारायण)	संस्कृत कालेज, बंगलौर, 1956
64.	ललिता सहस्रनामस्तोत्रम् (ललितम्ब त्रिशतीस्तवः)	सं.-पन्नालाल अभिमन्यु	मास्टर खेलाडी एण्ड संस, वाराणसी-1, 1974
65.	वरिवस्या रहस्यम्	भास्कर राय	आड्यार लाइब्रेरी प्रकाशन मद्रास, 1948
66.	वाक्य-पदीय	भर्तृहरि	मुंशीराम मनोहर लाल नई दिल्ली, 1970
67.	वाचस्पत्यम्	तारानाथ	चौखम्बा संस्कृत सीरीज वाराणसी, 1962
68.	वातूलनाथ सूत्र वृत्ति	अनन्त शक्तिपाद	काश्मीर संस्कृत ग्रन्थावली काश्मीर, 1923
69.	वामकेश्वरी तंत्रम्	जयरथ	काश्मीर संस्कृत ग्रन्थावली काश्मीर, 1945
70.	विवरण प्रमेय संग्रह	विद्यारण्य	चौखम्बा संस्कृत सीरीज वाराणसी, 1970
71.	वेदान्त परिभाषा	धर्मराजाध्वरीन्द्र	रामकृष्ण मिशन शारदापीठ बेलूर मठ, कलकत्ता, 1972
72.	वैदिक विज्ञान और भारतीय संस्कृति	गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी	बिहार राष्ट्रभाषा परिषद, पटना, 1972

–73.	वैदिक देवता	गायाचरण त्रिपाठी	भारतीय विद्या प्रकाशन दिल्ली, 1982
74.	शब्द कल्पद्रुम	राधाकान्त देव	चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी, 1935
75.	शब्दार्थ कौस्तुभ	द्वारका प्रसाद, तरिणीश भट्ट	रामनारायण एवं बेनीप्रसाद, इलाहाबाद, 1977
76.	शक्ति अंक (कल्याण)	–	गीताप्रेस गोरखपुर, 1934
77.	शांकर वेदान्त - एक अनुशीलन	रमाकान्त आंगिरस	नटराज पब्लिकेशन करनाल, 1982
78.	शाक्त दर्शन	हयग्रीव (सं.-के. वी. अभयंकर)	संस्कृत विद्यापरिसंस्थान पूना, 1982
79.	शाक्त दर्शनम्	चक्रेश्वर भट्टाचार्य	नवजीवन प्रेस, कलकत्ता, 1970
80.	शारदा तिलक	सं.-आर्थर एवलान	संस्कृत प्रेस; कलकत्ता, 1933
81.	शिव दृष्टि (वृत्ति सहित)	सोमानन्द (उत्पलदेव)	काश्मीर संस्कृत ग्रन्थावली काश्मीर, 1934
82.	शिवस्वरोदयः (टीका सहित)	मुरलीधर भट्ट	भार्गव पुस्तकालय, बनारस, 1925
83.	शिव-सूत्र-वार्तिक	वरदराज	काश्मीर संस्कृत ग्रन्थावली काश्मीर, 1925
84.	शैव-मत	यदुवंशी	बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् पटना-3, 1955
85.	श्री विद्या-नित्यार्चन	योगीन्द्र कृष्ण	कल्याण मन्दिर कटरा, प्रयाग-2, 2009
86.	सर्वतंत्र सिद्धांत पदार्थ-लक्षण संग्रह	गौरीशंकर	विद्याविलास प्रेस, बनारस, 1922
87.	सर्वदर्शन संग्रह	माधवाचार्य (भाष्यकार-उमांशंकर शर्मा "ऋषि")	चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी, 1978

88.	संस्कृत हिन्दी कोश	वामन शिवराम आप्टे	मोती लाल बनारसी दास दिल्ली-1, 1966
89.	सांख्य तत्त्व कौमुदी	ईश्वरकृष्ण (वाचस्पति)	प्रेम प्रकाशन इलाहाबाद, 1969
90.	सांख्य दर्शनम् (सांख्य-प्रवचन भाष्य)	विज्ञानभिक्षु	चौखम्बा संस्कृत सीरीज वाराणसी, 1928
91.	सिद्धित्रयी	उत्पलदेव	काश्मीर संस्कृत ग्रन्थावली काश्मीर, 1921
92.	सिद्धांत कौमुदी (वालमनोरमा टीका)	भट्टोजिदीक्षित	चौखम्बा संस्कृत सीरीज वाराणसी, 1911
93.	सौन्दर्य दृष्टि	ओम प्रकाश भारद्वाज	चिन्ता प्रकाशन पिलानी, राजस्थान, 1983
94.	सौन्दर्य शास्त्र और आधुनिक हिन्दी कोश	प्रेमलता बफाना	नटराज पब्लिशिंग हाऊस करनाल, 1983
95.	सौन्दर्य लहरी	शंकराचार्य (सं.-एन. एन. स्वामी)	ओरियण्टल लाइब्रेरी प्रकाशन, मैसूर यूनिवर्सिटी, मैसूर, 1945
96.	सौन्दर्य लहरी (टीकात्रय)	शंकराचार्य	गणेश एण्ड कम्पनी प्राइवेट् मद्रास, 1970
97.	स्तव-चिन्तामणि	भट्टनारायण	काश्मीर संस्कृत ग्रन्थावली काश्मीर, 1918
98.	स्पन्दकारिका	वसुगुप्त	काश्मीर संस्कृत सीरीज, काश्मीर।
99.	स्फोट-दर्शन	रंगनाथ पण्डित	बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् पटना, 1967
100.	स्वच्छन्दतंत्र	क्षेमराज	काश्मीर संस्कृत ग्रन्थावली काश्मीर, 1935
101.	त्रिपुरा रहस्यम् (ज्ञान-खण्ड)	श्रीनिवासकृत तात्पर्य-दीपिका सहित (सं.-गोपीनाथ कविराज)	सरस्वती भवन ग्रन्थमाला 1965
102.	त्रिपुरा-रहस्य का तंत्र विश्लेषण	भवानी शंकर उपाध्याय	चौखम्बा संस्कृत सीरीज वाराणसी, 1911

1. Abhinavagupta - A Historical and Philosophical study, (*Pandey Kanti Chandra*), Chowkahmba Sanskrit Series, Varanasi,1963

2. Aspects of Indian thought, (*Kaviraj Gopinath*), Vardan University publication, Vardan, 1966

3. Aspects of Kashmir Saivism, (*B.N. Pandit*), Utpal Publications, Srinagar, 1977

4. Bhagavad Gita, (*Chidbhavananda*), Sri Rama Krishna Tapovanam, Tirupparaitturai, 1974

5. Comparative Aesthetics, (*K.C. Pandey*), Chowkhamba Sanskrit Series, Varanasi, 1959

6. Critique of Indian Realism, (*D.N. Shastri*), Agra University, Agra, 1964

7. Dictionary of Philosophy, (*Ed.-Dagolert*), Adams & Co., New Jersey, U.S.A., 1980

8. Dictionary of Philosophy, (*Ed.-I. Frolov*), Profress Publishers, Moscow, 1984

9. Future Poetry, (*Sri Aurobindo*), Sri Aurobindo Ashram, Pondicherry, 1953

10. Garland of letters, (*Sir John Woodroffee*), Ganesh & Co., Madras-17, 1955

11. Hindu Tantrism [a) *Sanjukta Gupta*, b) *Dirk Jan Hoens*, c) *Teun Govdriaan*], Handbuch Der Orientalistik, Abschnitt., 1979

12. History of Indian Cosmological Ideas, (*N.N. Bhattacharya*), Munshiram Manoharlal, Delhi, 1970

13. History of Indian Philosophy, (*E. Franwallner*), Motilal Banarsidas, New Delhi, 1973

14. History of Pre-Buddhistic Indian Philosophy, (*B. Barua*), Motilal Banarsidass, New Delhi, 1970

15. History of Saivism, (*Pranabananda Jash Roy and Chaudhury*), Calcutta-1, 1974

16. History of the Tantric Religion, (*N.N. Bhattacharya*), Manohar lal & Sons, Publications, Delhi, 1982

17. Indian Thought, (*Doual Bishop*), Wiley Eastern Pvt. Limited, New Delhi, 1975

18. Kamakalavilasa (*Punyananda Natha) (Commt. by Natanana Natha) (Trans. by Arthur Avlon*) Ganesh & Co. (Madras) Ltd., Madras, 1953

19. Kapalikas and Kalamukhas (*Davi N. Lorenzen*) Thomsom Press, New Delhi, 1972

20. Kasmir Saivism, (*L.N. Sharma*), Bhartiya Vidya Prakashan, Varanasi-1, 1972

21. Kashmir Saivism, (*Swami Lakshman Joo*), Universal Shiva Trust, Srinagar, 1985

22. Krama Tantricism of Kashmir, Vol-I, (*Navjivan Rastogi*), Motilal Banarsi Dass, Delhi, 1979

23. Mimansa Nyaya Prakasha, (*Trans. by Franklin Edgeston*), Sri Garibdas oriental series no. 36, New Delhi, 1986

24. Philosophy of Panchadasi, (*Krishna nanda*) The Divine life society, Pondicherry, 1982

25. Panchadasi (*Vidya Ranya*) Ramkrishna Math, Madras, 1975

26. Saivism in Philosophical Perspective, (*K. Sivaraman*), Motilal Banarsidas, Delhi, 1973

27. Studies in Tantra Yoga, (*D.B. Sen Sharma*), Natraj Publishing House, Karnal, 1985

28. Schools of Saivism, (*Jadunath Singh*), Sinha Publishing House Pvt. Ltd., Calcutta-26, 1970

29. Saivism through the Ages, (*R.K. Siddhanta Shastree*), Munshiram Manohar Lal Publishing House, Delhi, 1975

30. Shardatilaktantram, (*Edit. Arthur Avlon*), Agninusandhansanti, Calcutta, 1933

31. Tantra-An etymological & Philosophical Interpretation, (*Dr. Ramakant Angrias*), Darshan Yoga Sansthan, Delhi, 1979

32. Tantra in Bengal, (*S.C. Banerji*), Naya Prakash, Calcutta, 1978

33. Tantra Raj Tantra-A Short Analysis, (*Sir John Woodroffe*), Ganesh & Co. (Madras) Ltd. Madras-17, 1985

34. Tantric Tradition, (*Agehananda Bharati*), B.I. Publications, 54, Janpath, New Delhi-110001

35. The Tantric Way, (*Ajit Mookerjee, Mandhu Khanna*), Vikas Publishing House Pvt. Ltd., Delhi-110006

36. The Saiva Paribhasa, (*Edit H.R. Rangaswamy Iyengar*), Oriental Research Institute Publications, Sanskrit Series 90, Mysore, 1950

37. Varivasya - Rahasya with commt., (*Bhaskara-Raya Makhin' edited by S. Subrahmanya Sastri*), The Adyar Library, Adyar, 1948

38. Vision of the Vedic Poets, (*J. Gonda*), Asiatic Society Journal, Calcutta, 1961

39. Yoga Philosophy, (*S.N. Das Gupta*), Motilal Banarsidass, New Delhi, 1974

40. Yoga System of **Patanjali, (*J.H. Woods*), Motilal Banarsidass,** 1972

TRIOLOGY OF TANTRA

by

Dr. Ramakant Sharma Angiras

THE major objective of the book is to dispel the prevailing misconceptions in the domain of interpretations of ideas and values of Tantrika thought. For comprehensive understanding of the concept of Sakti and Siva some nodal points have been identified and arranged in this triology of tantra with help of an introduction and English translation and a commentary on the three texts of tantra literature. The attempt is to explore horizons of a possible dialogue between the scholars of Sanskrit texts of tantra and the west-oriented thinkers of Indian Philosophy.

Price Rs. 140/-
Pages—136

शांकर वेदान्त–एक अनुशीलन

द्वारा

डा० रमाकान्त शर्मा आंगिरस

ग्रन्थकार ने न केवल अद्वैतवेदान्त तत्त्व (जैसे— ब्रह्म, जीव, जगत् आदि) का स्पष्टीकरण किया है अपितु अनेक रहस्यों का प्रकाश—कबीर, दादू, रविदास, सुन्दर दास आदि—सत्यद्रष्टा सन्तों के जीवन और वाणियों में कैसे हुआ है इसका भी सुन्दर विश्लेषण किया है। उनके माध्यम से ही अद्वैत-दर्शन हमारे देश के जन जन तक पहुंचा है। प्रस्तुत ग्रन्थ इस अद्वैतामृत धारा का ही सूक्ष्म एवं गम्भीर विवेचन है। जिसका सन्दर्भ शास्त्र एवं लोक है।

मूल्य रुपये 100/–
पृष्ठ संख्या—279